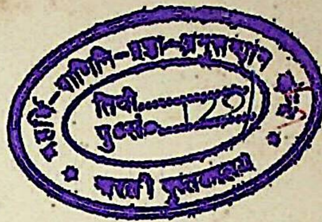
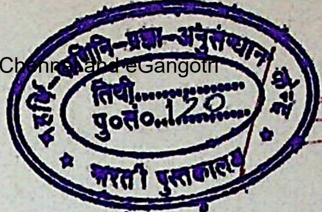
चाणक्य नीति दर्पणः

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती







ओ३म्

भगवतीभाष्यसमलंकृत

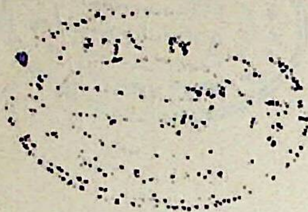
चाणक्यनीतिदर्पणः

[शोधपूर्ण-संस्करण]

भाष्यकार
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती



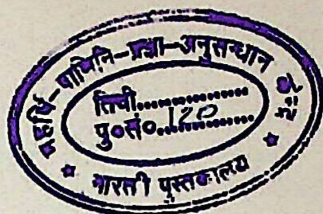
गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६



प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन
४४०८, नयी सड़क
दिल्ली-११०००६

संस्करण : 1988

मुद्रक :
गायत्री आफसैट प्रेस नौएडा-201 301



प्रस्तावना

संस्कृत-साहित्य रत्नों से भरपूर है। कुछ पद्यों का रसास्वादन कीजिए—

उत्तमः क्लेशविक्षोभं क्षमः सोढुं न हीतरः।
मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः॥

क्लेश को सहन करने में उत्तम पुरुष ही समर्थ हो सकता है, साधारण मनुष्य नहीं। मणि ही टाँकी की चोट को सहन कर सकती है, मिट्टी का कण नहीं।

एक एव खगो मानी वने वसति चातकः।
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम्॥

वन में केवल एक ही स्वाभिमानी पक्षी चातक निवास करता है, वह या तो प्यासा मर जाता है अथवा केवल इन्द्र से [जल के लिए] याचना करता है।

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः॥

सज्जन गुणहीन वस्तुओं पर भी कृपादृष्टि रखते हैं, चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका को चाण्डाल के घर पर पड़ने से नहीं रोक लेता।

चाणक्यजी ने भी इस प्रकार के सैकड़ों श्लोक लिखे हैं। इनके सम्बन्ध में 'कामन्दकीयनीतिसार' में लिखा है—

नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

—काम० १।६

जिसने अर्थशास्त्ररूपी महासमुद्र से नीतिशास्त्ररूपी अमृत का दोहन किया, उस महाबुद्धिमान् आचार्य विष्णुगुप्त [चाणक्य] को मैं प्रणाम करता हूँ।

पञ्चतन्त्र के रचयिता विष्णुशर्मा ने भी चाणक्य को नीतिशास्त्रकर्ताओं में गिना है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥

—पञ्च० १।२

मनु, बृहस्पति, शुक्र, पुत्र व्याससहित पराशर मुनि, विद्वान् चाणक्य और नीतिशास्त्र के कर्ताओं को नमस्कार है।

चाणक्य कौन था ?

यह एक ऐसा अद्भुत राजनीतिज्ञ था, जिसने एक ओर मगध देश के नन्द राजाओं द्वारा शासित राजसत्ता का विनाश कर उसके स्थान पर मौर्य साम्राज्य की प्रस्थापना की तो दूसरी ओर 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' जैसे राजनीतिविषयक अपूर्व ग्रन्थ की रचना कर संस्कृत साहित्य में अपना नाम और काम अमर कर दिया।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अन्त में इन्होंने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह उचित ही है—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

—कौ० अ० १५।१।१८०

नन्द राजाओं जैसे दुष्ट राजवंश के हाथ में गई पृथिवी और शस्त्र एवं शास्त्रों को जिसने मुक्त किया, उसी आचार्य [चाणक्य] के द्वारा इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है।

हेमचन्द्र रचित 'अभिधानचिन्तामणि' में इनके निम्नलिखित नामान्तर प्राप्त होते हैं—

"वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटिल, चणकात्मज, द्रामिल, पक्षिलस्वामिन्, विष्णुगुप्त तथा अंगुल।"

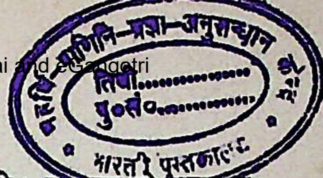
—द्रष्टव्य अभिधा० ८५३-८५४

इनके अनेक नामान्तर होने पर भी इनका पितृप्रदत्त नाम विष्णुगुप्त था। चणक नामक किसी आचार्य का पुत्र होने के कारण इन्हें सम्भवतः 'चाणक्य' पैतृक नाम प्राप्त हुआ होगा अथवा अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि होने के कारण आपकी उपाधि चाणक्य [अत्यन्त चतुर] हो गई थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन्होंने अपना निर्देश अनेक बार 'कौटिल्य' नाम से किया है। सम्भवतः यह इनका गोत्र नाम रहा हो। अनेक आचार्यों के अनुसार यह कुटिलनीति का निर्माता था, अतः इन्हें कौटिल्य [टेढ़ा] नाम प्राप्त हुआ।

म० म० गणपति शास्त्री के अनुसार इनके नाम का सही पाठ 'कौटल्य' था, जो इनके 'कुटल' गोत्रनाम से व्युत्पन्न हुआ था।

चाणक्यजी के जीवन की प्रामाणिक सामग्री अनुपलब्ध है परन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि चाणक्य मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के महामन्त्री, गुरु और परम हित-



कारी थे। आप राज्य-विनाशक और राज्य-संस्थापक थे। चन्द्रगुप्त को राज्य पर प्रतिष्ठित करना इन्हीं के बुद्धिकौशल का फल था।

ये ब्राह्मण थे परन्तु प्रतिदिन कंजूसों के घर में जाकर याचना करनेवाले ब्राह्मण नहीं थे। ये राज्यों का विनाश और निर्माण करनेवाले ब्राह्मण थे। इस स्वाभिमानी, तपस्वी ब्राह्मण ने श्राद्ध के निमन्त्रण में काले तथा कुरूप होने के कारण तिरस्कृत करके उठा दिये जाने के अपमान से क्रुद्ध होकर नन्द साम्राज्य का तख्ता ही नहीं उलटा अपितु उसके वंश का भी समूलोच्छेद कर दिया।

जो व्यक्ति अपनी नीतिमत्ता से साम्राज्यों का विनाश और निर्माण कर सकता है, उसकी नीति कितनी महत्त्वपूर्ण होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

चाणक्यजी की शिक्षा-दीक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय मे हुई थी। आपने अपने शुभ जन्म से कौन-से स्थान को आलोकित किया था, इसका पता नहीं लगता। सम्भवतः आप उधर के ही किसी स्थान के निवासी हों। तक्षशिला झेलम जनपद में है [जो इस समय पापिस्तान में है]। इस प्रकार सम्भव है आपको जन्म देने का गौरव पंजाब को रहा हो।

चन्द्रगुप्त के महामन्त्री होकर भी आप कैसा तपपूर्ण जीवन जीते थे—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

—मुद्राराक्षस ३।१५

चाणक्य की झोंपड़ी में एक ओर गोबर के उपलों को तोड़ने के लिए एक पत्थर पड़ा हुआ था, दूसरी ओर शिष्यों [ब्रह्मचारियों] द्वारा लायी हुई कुशा का ढेर लगा हुआ था। छत पर समिधाएँ सूखने के लिए डाली हुई थीं, जिनके भार से छत नीचे झुक गई थी। ऐसी जीर्ण-शीर्ण कुटिया थी चाणक्य की निवास-स्थली।

किसी विदेशी राजदूत ने चाणक्य की कुटि को देखकर कहा था—"अहो! इतने बड़े देश का प्रधानमन्त्री ऐसी झोंपड़ी में रहता है!" चाणक्य ने कहा—जिस देश का प्रधानमन्त्री झोंपड़ी में रहता है, वहाँ के निवासी भव्य-भवनों में निवास करते हैं और जिस देश का प्रधानमन्त्री गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहता है, वहाँ की जनता झोंपड़ियों में रहती है।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त का समय एक ही है। अंग्रेजी गज से नापें तो ईसा से ३२२ या ३२५ वर्ष पूर्व मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त का समय बताया जाता है। यही

समय चाणक्य का भी है।

चाणक्यनीति के अतिरिक्त भी चाणक्यजी द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थ हैं। 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' आपका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। राज्य-प्रबन्ध सम्बन्धी यह अद्भुत ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त भी निम्न ग्रन्थ चाणक्यप्रणीत बताये जाते हैं—

१. **वृद्धचाणक्य**—इसमें आठ अध्याय और १२४ श्लोक हैं।

२. **चाणक्यनीतिशास्त्रम्**—इसमें १०८ श्लोक हैं।

३. **चाणक्यसारसंग्रह**—इसमें तीन शतकों में ३०० श्लोक हैं।

४. **लघुचाणक्य**—इसमें आठ अध्याय और ९१ श्लोक हैं।

५. **चाणक्यराजनीतिशास्त्रम्**—इसमें आठ अध्याय और ५१२ श्लोक हैं।

चाणक्य-नीति के अबतक पचासों अनुवाद हुए हैं। उनमें से अधिकांश घटिया कागज पर और महा अशुद्ध छपे हैं। अनुवाद भी उत्तम नहीं है। इस ग्रन्थ पर सबसे अधिक परिश्रम लुड्विग महोदय ने किया है। उन्होंने चाणक्यनीति के साथ चाणक्यजी के अन्य ग्रन्थों का भी सम्पादन किया है। यह ग्रन्थ पाँच भागों में है, अत्यन्त महँगा है और मूलमात्र है।

हमारे इस संस्करण की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. अत्यन्त शुद्ध मूलपाठ। यद्यपि हमने लुड्विग के संस्करण से सहायता ली है, परन्तु अनेक स्थानों पर हमने लुड्विग महोदय के पाठ को स्वीकार नहीं किया है।

२. महत्त्वपूर्ण पाठभेदों को पादटिप्पणी में दर्शाया गया है। जहाँ पाठभेद के कारण श्लोक के अर्थ में अन्तर पड़ता था, वहाँ अर्थ का भी निर्देश कर दिया है।

३. प्रत्येक श्लोक का शब्दार्थ दिया गया है।

४. विस्तृत शब्दार्थ देने के पश्चात् भावार्थ भी दे दिया है।

५. प्रायः सभी श्लोकों पर विमर्श दिया गया है, जिसमें वेद, दर्शन, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं।

६. अकार आदि क्रम से श्लोकों की सूची सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में ही दी गई है।

७. विमर्श में उद्धृत वेदमन्त्र, श्लोक, सूक्ति और हिन्दी-उर्दू के उद्धरणों की अनुक्रमणिका भी दे दी गई है।

८. बढ़िया कागज पर मोती जैसी छपाई—यह इसकी अन्य विशेषता है।

चाणक्यनीति पर अबतक इतना विस्तृत भाष्य कहीं से भी प्रकाशित नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ का भाष्य करने में हमने पर्याप्त परिश्रम किया है। विमर्श में

लगभग पाँच सौ प्रमाण हमने दिये हैं। सद्यः प्रज्ञाहरी तुण्डी [१७।१३]। इस श्लोक का विमर्श लिखने के लिए जुरहरा [भरतपुर] जाकर रामकृष्ण राजपूताना औषधालय के ग्रन्थागार से सहायता लेनी पड़ी।

गोविन्दराम हासानन्द के संचालक श्री विजयकुमार को इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए, श्री रामकृष्णदास जी 'रसिक' को पाण्डुलिपि और ईक्ष्य-वाचन [प्रूफरीडिंग] के लिए तथा अजय प्रिंटर्स के संचालक श्री अमरनाथ जी, ईक्ष्यवाचक श्री ओम्प्रकाश जी, प्रेस के कर्मचारी श्री सेवकराम जी तथा अन्य सभी कर्मचारियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिनके सहयोग से पुस्तक का कलापूर्ण, शुद्ध और प्रामाणिक संस्करण तैयार हो सका है।

अब यह ग्रन्थ पाठकों के करकमलों में समर्पित है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि 'श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण' और 'शुक्रनीतिसार' की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

वेद सदन
एच १।२ माडल टाउन
दिल्ली-९
१५-७-८३.

शुभकामनाओं सहित
जगदीश्वरानन्द

क्या-कहाँ

ओ३म्

सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः

चाणक्यनीतिदर्पणः

अर्थात्

राजनीतिसमुच्चयः

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम् ।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम् ॥१॥

शब्दार्थ—**त्रैलोक्याधिपतिम्** पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु—तीनों लोकों के स्वामी **प्रभुम्** सर्वशक्तिमान् **विष्णुम्** सर्वव्यापक परमेश्वर को **शिरसा प्रणम्य** शीश झुकाकर प्रणाम करके **नानाशास्त्रोद्धृतम्** वेदादि अनेक शास्त्रों से चुनकर **राजनीतिसमुच्चयम्** राजनीतिसमुच्चयः नामक ग्रन्थ को **वक्ष्ये** कहूँगा ।

भावार्थ—तीनों लोकों के स्वामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक परमेश्वर को प्रणाम कर मैं अनेक शास्त्रों से उद्धृत करके 'राजनीति-समुच्चयः' नामक ग्रन्थ का लेखन-कार्य आरम्भ करता हूँ ।

विमर्श—**"वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः**—चर और अचर जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम 'विष्णु' है ।

—महर्षि दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास

प्रभु का अर्थ है सर्वशक्तिमान्, परन्तु सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह जो चाहे सो करे, क्योंकि परमेश्वर अपने-आपको मारकर दूसरा परमेश्वर नहीं बना सकता, स्वयं मूर्ख नहीं हो सकता, वह व्यभिचार आदि पापकर्म नहीं कर सकता, किसी को अपने राज्य की सीमा से बाहर नहीं निकाल सकता, स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता आदि । सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ केवल इतना है कि

परमेश्वर अपने कार्य अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति, उसके पालन और प्रलय करने में तथा जीवों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अपितु अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपने कार्य पूर्ण कर लेता है।

राजनीतिसमुच्चयः—चाणक्यजी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'राजनीति-समुच्चयः' रखा था। कालान्तर में यह नाम गौण होकर इसका नाम 'चाणक्यनीतिदर्पणः' हो गया।

नानाशास्त्रोद्धृतम्—चाणक्यजी ने यह ग्रन्थ अपनी कपोलकल्पना से नहीं लिखा; अपितु वेद, मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थों का सार निकालकर यह संग्रह तैयार किया है।

अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाऽशुभम् ॥२॥

शब्दार्थ—**सत्तमः नरः** श्रेष्ठ मनुष्य, उत्तम जन **इदम्** इस 'राजनीति-समुच्चयः' को **यथाशास्त्रम्** विधिवत् **अधीत्य** पढ़कर **धर्मोपदेशविख्यातम्** वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध **कार्य-अकार्यम्** कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य तथा **शुभ-अशुभम्** पुण्य और पाप, भले तथा बुरे कार्य को **जानाति** ठीक-ठीक जानता है।

भावार्थ—श्रेष्ठ मनुष्य इस शास्त्र का विधिवत् अध्ययन करके वेदादि शास्त्रों में उपदिष्ट कर्तव्य-अकर्तव्य, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म को ठीक-ठीक जान जाता है।

✓**विमर्श**—'सत्तमः नरः' कौन है ? महाभारत में कहा है—

अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम्।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः॥

—महा० अनु० ५९।१०

यदि शत्रु भी दीन बनकर शरण पाने की इच्छा से घर पर आ जाए, ऐसे संकट में फँसे मनुष्य पर जो दया करता है, उसे ही नरसत्तम = पुरुषश्रेष्ठ कहते हैं।

तदहं सम्प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते ॥३॥

शब्दार्थ—**अहम्** मैं **लोकानाम्** मानवमात्र की **हितकाम्यया** कल्याण की कामना से, लोगों के भले के लिए **तत्** उस 'राजनीतिसमुच्चयः' का

सम्प्रवक्ष्यामि सम्यक्, ठीक-ठीक प्रवचन करूँगा **येन** जिसके **विज्ञान-मात्रेण** ज्ञानमात्र से मनुष्य **सर्वज्ञत्वम्** सर्वज्ञता को **प्रपद्यते** प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—मैं लोगों के मङ्गल की इच्छा से उस 'राजनीतिसमुच्चयः' का वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है।

विमर्श—सर्वज्ञ का अर्थ भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञाता हो जाना अथवा सारे लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त हो जाना अथवा सब-कुछ जानने में समर्थ हो जाना अभिप्रेत नहीं है। सर्वज्ञ का अर्थ केवल इतना है कि उसे धर्म, अर्थ और काम का ज्ञान हो जाता है।

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
[1]दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति ॥४॥

शब्दार्थ—**मूर्खशिष्य-उपदेशेन** मूर्ख=बुद्धिहीन शिष्य को पढ़ाने से अथवा धर्मसम्बन्धी उपदेश करने से **च** और **दुष्टस्त्रीभरणेन**, व्यभिचारिणी, कटु, कर्कश और कठोर बोलनेवाली स्त्री का पालन-पोषण करने से **दुःखितैः** नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित, प्रियजनों के वियोग अथवा धननाश आदि के कारण दुःखित लोगों के साथ **सम्प्रयोगेण** व्यवहार करने से **पण्डितः** पण्डित, बुद्धिमान् मनुष्य **अपि** भी **अवसीदति** दुःखी होता है, कष्ट उठाता है।

भावार्थ—मूर्खशिष्य को पढ़ाने से, दुष्टस्त्री का भरण-पोषण करने से और दुःखीजनों के साथ व्यवहार करने से बुद्धिमान् मनुष्य भी दुःख उठाता है।

विमर्श—मूर्खों को उपदेश—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ॥

—पञ्चतन्त्र १।४२०

उपदेश से मूर्ख कुपित ही होते हैं, शान्त नहीं होते। सर्पों को दूध पिलाने से उनका विष ही बढ़ता है।

सीख वाको दीजिए जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजै बाँदरा घर बया को जाय ॥

---

१. पाठभेद—द्विषतां

किसी ने मूर्ख के पाँच चिह्नों में 'दूसरे की बात को न मानने' का भी उल्लेख किया है—

मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि गर्वो दुर्वचनं तथा ।
हठश्चैव विषादश्च परोक्तं नैव मन्यते ॥

मूर्ख मनुष्य के पाँच चिह्न होते हैं यथा—(१) अभिमानी होना, (२) कटु-कठोर बोलना, गाली प्रदान करना, (३) हठी, अड़ियल होना, (४) दुःखी होना और (५) दूसरे की कही हुई बात को न मानना ।

दुष्टस्त्री—व्यभिचारिणी नारी का भरण-पोषण भी ठीक नहीं—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

—पञ्चतन्त्र ४।५३

जिसके घर में माता न हो और स्त्री अप्रियवादिनी=दुराचारिणी हो, उसे वन में चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए घर और वन समान ही हैं ।

दुःखितों, रोगियों, पीड़ितों, शोक-सन्तप्तों के साथ व्यवहार होने से भी कष्ट तो होगा ही । वैद्य 'परदुःखेन दुःख्यते' दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, अतः दुःखियों के साथ व्यवहार रखने से पण्डित भी दुःखी होगा ।

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥५॥

शब्दार्थ—**दुष्टा** कटु बोलनेवाली और दुराचारिणी **भार्या** स्त्री, पत्नी **शठम्** धूर्त **मित्रम्** मित्र **च** तथा **उत्तरदायकः** उत्तर देनेवाला, सामने बोलनेवाला **भृत्यः** नौकर **च** और **ससर्पे** जहाँ साँप रहता हो ऐसे, सर्पवाले **गृहे** घर में **वासः** निवास—ये बातें **मृत्युः** मौत, मृत्यु के समान **एव** ही हैं **संशयः न** इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—कटुभाषिणी और दुराचारिणी स्त्री, धूर्त स्वभाववाला मित्र, उत्तर देनेवाला नौकर और सर्पवाले घर में रहना—ये सब बातें मृत्युस्वरूप ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

विमर्श—दुष्टा नारी का चित्रण देखिए—

आः पापं न करोषि पापिनि कथं पापी त्वदीयः पिता,
रण्डे जल्पसि किं तवैव जननी रण्डा त्वदीया स्वसा ।

निर्गच्छ त्वरितं गृहाद् बहिरितो नेदं त्वदीयं गृहम्;
हा! हा! नाथ! ममाद्य देहि मरणं जारस्य भाग्योदयः॥

भूख से व्याकुल कोई पति घर पहुँचने पर भोजन करना चाहता है, परन्तु घर में भोजन तैयार नहीं है, अतः वह क्रोधावेश में पत्नी से कहता है—

"रे पापिनि! अबतक भोजन क्यों नहीं बनाया?" पत्नी उत्तर देती है—"मैं पापिनी क्यों हूँ, पापी होगा तुम्हारा पिता।" पति पुनः क्रुद्ध होकर कहता है—"अरी राँड! क्यों अधिक बकवास करती है?" पत्नी उत्तर देती है—"मैं क्यों राँड हूँ, राँड होगी तेरी माँ, तेरी बहिन।" पति पुनः कुपित होकर कहता है—"मेरे घर से शीघ्र बाहर निकल जा।" पत्नी उत्तर देती है—"यह घर तुम्हारा नहीं है।" यह सुनते ही पति कहता है—"हा नाथ! हा नाथ! मेरा आज ही मरण हो जाए तो अच्छा है, क्योंकि घर में कुलटा का भाग्योदय हुआ है।"

ऐसी कुलटा सचमुच मृत्यु ही है।

धूर्त मित्र—धूर्त किसे कहते हैं?

मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं क्रोधसंयुक्तं त्रिविधं धूर्तलक्षणम्॥

जिसका मुख कमल के समान प्रसन्न हो, जिसकी वाणी चन्दन के समान शीतल हो तथा जिसका हृदय क्रोध से युक्त हो—इस त्रिपुटी से युक्त होना धूर्त का लक्षण है।

'जो चोर से कहे चोरी कर ले और शाह से कहे जागते रहना'—ऐसा धूर्त भी मृत्युरूप ही है। धूर्त कहीं भी धोखा देकर मित्र के लिए मृत्यु का कारण बन सकता है।

उत्तर देनेवाला नौकर भी मृत्युरूप ही है। जहाँ छोटा बड़ों का अपमान करे वहाँ बड़ों की मृत्यु ही है।

साँपवाले घर में रहने में तो मृत्यु में सन्देह है ही नहीं।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥६॥[1]

शब्दार्थ—**आपदर्थे** आपत्तिकाल के लिए **धनम्** धन की **रक्षेत्** रक्षा करे **धनैः** धन से **अपि** अधिक **दारान्** स्त्री की **रक्षेत्** रक्षा करे और

---

१. सम्भवतः चाणक्यजी ने यह श्लोक महाभारत उद्योगपर्व २७।१८ से लिया है।

सततम् सदा **दारैः अपि** स्त्री से भी तथा **धनैः अपि** धन से भी अधिक **आत्मानम्** अपने आत्मा की, अपनी **रक्षेत्** रक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि आपत्तिकाल के लिए धन का संग्रह और उसकी रक्षा करे। धन से भी अधिक पत्नी की रक्षा करनी चाहिए।[1] परन्तु धन और स्त्री से भी अधिक अपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अपना ही नाश हो जाने पर धन और स्त्री का क्या प्रयोजन ?

विमर्श—इस विषय में विदुरजी ने भी ठीक ही कहा है—

त्यजेत् कुलार्थं पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

—महा० उद्यो० ३७।१७

कुल की रक्षा के लिए एक पुरुष का बलिदान कर देना चाहिए, ग्राम की रक्षा के लिए कुल को त्याग देना चाहिए, जनपद [जिले] के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए और आत्मरक्षा के लिए सारी पृथिवी को छोड़ देना चाहिए।

आपदर्थे धनं रक्षेच्छ्रीमतां कुत आपदः।
कदाचिच्चलते लक्ष्मीः सञ्चितोऽपि विनश्यति ॥७॥

शब्दार्थ—**आपत्+अर्थे** आपत्ति-काल के लिए, विपत्ति-निवारणार्थ **धनम्** धन की **रक्षेत्** रक्षा करनी चाहिए, **श्रीमताम्** श्रीमानों, धनवानों, वैभवशालियों पर **आपदः** आपत्तियाँ **कुतः** कब आती हैं ? **कदाचित्** कभी दैवयोग से **लक्ष्मीः** सम्पत्ति, धन, वैभव, **चलते** चला जाता है, यदि ऐसी बात है तो **सञ्चितः** सञ्चित, जोड़ा हुआ धन **अपि** भी **विनश्यति** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—किसी ने किसी धनी से कहा—"आपत्तिकाल के लिए धन का संग्रह करना चाहिए।" धनी बोला—"श्रीमानों पर आपत्तियाँ कब आती हैं ?" वह मनुष्य बोला—"लक्ष्मी चञ्चल है, हो सकता है कभी चली जाए।" धनी बोला—"यदि ऐसी बात है तो सञ्चित की हुई सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती है।"

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवाः।
न च विद्याऽऽगमः कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥८॥

---

१. पत्नी की रक्षा के लिए धन का व्यय करना पड़े तो निःसंकोच होकर करना चाहिए।

शब्दार्थ—**यस्मिन्** जिस **देशे** देश में **सम्मानः** आदर-सम्मान **न** नहीं है **न** न **वृत्तिः** आजीविका है **च** और **न** न **बान्धवाः** भाई-बन्धु हैं **च** तथा **कश्चित्** किसी **विद्या+आगमः** विद्या की प्राप्ति भी **न** नहीं है **तम्** उस **देशम्** देश को **परिवर्जयेत्** त्याग देना चाहिए।

भावार्थ—जिस देश में न तो आदर-सम्मान है, न आजीविका-प्राप्ति के साधन हैं, न बन्धु-बान्धव हैं और न ही किसी विद्या की प्राप्ति की सम्भावना है, ऐसे देश को छोड़ देना चाहिए, ऐसे स्थान पर नहीं रहना चाहिए।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥९॥

शब्दार्थ—**धनिकः** धनवान् **श्रोत्रियः** वेदज्ञ ब्राह्मण **राजा** धार्मिक और न्यायशील राजा, **नदी** कृषि की सिंचाई के लिए नदी **तु** और **पञ्चमः** पाँचवाँ **वैद्यः** वैद्य—**यत्र** जहाँ ये **पञ्च** पाँच **न विद्यन्ते** विद्यमान न हों **तत्र** वहाँ, उस स्थान पर **दिवसम्** एक दिन भी **न** नहीं **वसेत्** रहना चाहिए।

भावार्थ—जहाँ धनवान्, वेदज्ञ ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य—ये पाँच विद्यमान न हों, ऐसे देश या स्थान में नहीं रहना चाहिए।

विमर्श—**धनिकः**—समय पड़ने पर ऋण देने या लेने के लिए धनिक का होना आवश्यक है।

श्रोत्रियः—उपदेश देकर लोगों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए श्रोत्रिय=वेदज्ञ ब्राह्मण होना चाहिए। बौधायन गृह्यसूत्र में श्रोत्रिय की परिभाषा के लिए निम्न सूत्रों को देखें—

ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्रागुपनयनाज्जात इत्यभिधीयते ॥

ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥

ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करनेवाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़कर ब्राह्मण होता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥

वेद की एक शाखा का अध्ययन करके 'श्रोत्रिय' होता है।

और देखिए -

एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥
—दानकमलाकर

कल्प अथवा षडङ्गोंसहित वेद की एक शाखा का अध्ययन करके छह कर्मों [पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना] में निरत धर्म को जाननेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है।

राजा—न्याय और रक्षा के लिए धार्मिक राजा का होना आवश्यक है।

नदी—खेती की सिंचाई, उन्नति और वृद्धि के लिए नदियाँ होनी चाहिएँ।

वैद्य—रोगी होने पर चिकित्सा के लिए वैद्य की आवश्यकत होती है।

✓लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न[1] कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥१०॥

शब्दार्थ—**यत्र** जहाँ **लोकयात्रा** आजीविका, व्यापार, **भयम्** दण्डभय **लज्जा** लोकलाज, **दाक्षिण्यम्** चतुरता और **त्यागशीलता** दान देने की प्रवृत्ति—ये **पञ्च** पाँच बातें **न विद्यन्ते** न हों **तत्र** वहाँ **संस्थितिम्** निवास **न कुर्यात्** नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—जहाँ आजीविका या व्यापार, दण्डभय, लोकलज्जा, चतुरता और दानशीलता—ये पाँच बातें न हों, ऐसे स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए।

✓जानीयात् प्रेषणे भृत्यान् बान्धवान् व्यसनाऽऽगमे ।
मित्रं चाऽऽपत्तिकालेषु भार्यां च विभवक्षये ॥११॥

शब्दार्थ--**प्रेषणे** काम में लगाने अथवा कार्य उपस्थित होने पर **भृत्यान् जानीयात्** नौकरों को जाने, नौकरों की परीक्षा होती है, **व्यसन+आगमे** दु:ख आ पड़ने पर **बान्धवान् जानीयात्** बन्धु-बान्धवों

---

१. पाठभेद —**न कुर्यात् तत्र संगतिम्** । ऐसा पाठभेद होने पर सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है —

जिसने देशाटन न किया हो, जिसे ईश्वर और धर्म से भय न हो, जिसमें लोकलाज, कार्यदक्षता और दानशीलता का अभाव हो, ऐसे मनुष्य के साथ संगति नहीं करनी चाहिए।

की परीक्षा होती है **च** और **आपत्तिकालेषु** संकट, आपत्ति के अवसरों पर **मित्रम् जानीयात्** मित्र की पहचान होती है **च** तथा **विभवक्षये** धन का नाश होने पर **भार्याम् जानीयात्** स्त्री की परीक्षा होती है।

भावार्थ—कार्य में नियुक्त करने पर नौकरों की, दुःख आने पर बान्धवों की, विपत्ति काल में मित्रों की और धन नष्ट होने पर स्त्री की परीक्षा होती है।

विमर्श—धन नष्ट होने पर मित्रों की परीक्षा होती है। तुलसीदासजी लिखते हैं—

धीरज धरम मित्र अरु नारी।
आपतकाल परखिये चारी।। —मानस

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रु-संकटे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥१२॥

शब्दार्थ—**आतुरे** रोगी होने पर **व्यसने प्राप्ते** दुःख आ पड़ने पर **दुर्भिक्षे** अकाल पड़ने पर **शत्रु-संकटे** शत्रु से संकट उपस्थित होने पर **राजद्वारे** राजसभा में **च** और **श्मशाने** श्मशान में **यः** जो **तिष्ठति** साथ देता है **सः** वही **बान्धवः** सच्चा बन्धु है।

भावार्थ—रोगी होने पर, दुःखी होने पर, अकाल पड़ने पर, शत्रु से संकट उपस्थित होने पर, किसी मुकदमे आदि में फँस जाने पर गवाह एवं सहायक के रूप में राजसभा में और मरने पर जो श्मशान में भी साथ देता है, वही सच्चा बन्धु है।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥१३॥[1]

शब्दार्थ—**यः** जो मनुष्य **ध्रुवाणि** ध्रुव, निश्चित पदार्थ या भोगादि को **परित्यज्य** छोड़कर, परित्याग करके **अध्रुवम्** अनिश्चित वस्तु या भोग्य पदार्थ के लिए **परिषेवते** दौड़ लगाता है, उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करना है **तस्य** उसके **ध्रुवाणि** निश्चित पदार्थ, भोग अथवा कार्य **नश्यन्ति** नष्ट हो जाते हैं, बिगड़ जाते हैं **च** और **अध्रुवम्** अनिश्चित पदार्थ, भोग, कार्य आदि तो **नष्टम् एव** नष्ट ही हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के पीछे भागता है उसका निश्चित कार्य या पदा नष्ट हो जाता है और

---

१. यह श्लोक गरुड़पुराण ११०।१ में लगभग इसी रूप में उपलब्ध है।

अनिश्चित तो नष्ट है ही।

वरयेत् कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपवतीं न नीचस्य विवाहः सदृशे कुले ॥१४॥[1]

शब्दार्थ—**प्राज्ञः** बुद्धिमान् मनुष्य **कुलजाम्** श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न **विरूपाम्** रूपलावण्य-रहित, सौन्दर्य-हीन, कुरूप **कन्यकाम्** कन्या को **वरयेत्** वर ले, उसके साथ विवाह कर ले परन्तु **रूपवतीम्** रूपलावण्य-युक्त, सुन्दरी **नीचस्य** नीच कुल की कन्या से **न** विवाह न करे, क्योंकि **विवाह सदृशे** अपने गौरव के अनुकूल, अपने तुल्य **कुले** कुल में ही विहित है।

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न कुरूप कन्या के साथ विवाह कर ले परन्तु नीच कुल में उत्पन्न सुन्दरी कन्या के साथ भी विवाह न करे, क्योंकि विवाह तुल्य कुल में ही विहित है।

विमर्श—यह श्लोक निश्चितरूप से प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त होने का कारण यह है कि यह श्लोक इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक के विरुद्ध है। वहाँ स्पष्ट कहा है—'**स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि**'—स्त्रीरत्न को दुष्टकुल से भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

नखीनां च नदीनां च शृङ्गीणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥१५॥

शब्दार्थ—**नखीनाम्** सिंह, व्याघ्रादि नखवाले प्राणियों का **च** और **नदीनाम्** नदियों का **च** तथा **शृङ्गीणाम्** साँड आदि सींगवाले प्राणियों का **शस्त्र-पाणिनाम्** हाथ में तलवार, परशु आदि उठाये हुए शस्त्रधारियों का **स्त्रीषु** स्त्रियों पर **च** और **राजकुलेषु** राजकुलों पर **विश्वासः** विश्वास **न एव** नहीं **कर्तव्यः** करना चाहिए।

भावार्थ—नखवाले प्राणियों का, स्रोतों वाली नदियों का, सींगवाले प्राणियों का और शस्त्रधारी लोगों का विश्वास नहीं करना चाहिए। स्त्रियों और राजकुलों पर भी विश्वास न करे।

विमर्श—स्त्रियों का विश्वास न करने से सारे गृहकृत्य चौपट हो जाएँगे। स्त्री-पुरुष में परस्पर विश्वास न होने से घर नरक बन जाएगा।

---

१. यह श्लोक गरुड़पुराण [११०।५] में कुछ पाठभेद से उपलब्ध है। किसी ने वहीं से चाणक्यनीति में भी इसका प्रक्षेप कर दिया है।

अविश्वासी स्त्री-पुरुषों की सन्तानें भी धूर्त ही होंगी, अतः यहाँ स्त्रियों में अविश्वास से तात्पर्य केवल इतना है कि उन्हें स्वतन्त्र और अरक्षित न छोड़ें। उन्हें सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ देने से उनके गिरने, पतित होने और भटकने का डर है। उन्हें सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ने के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में उनपर विश्वास रखना चाहिए।

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१६॥

शब्दार्थ—**विषात्** विष में से **अपि** भी **अमृतम्** अमृत **ग्राह्यम्** ग्रहण करने, ले लेने योग्य है, **अमेध्यात्** अपवित्र, अशुद्ध, गन्दे पदार्थ में से **अपि** भी **काञ्चनम्** सोना ले लेने, उठा लेने योग्य है, **नीचात्** नीच मनुष्य से **अपि** भी **उत्तमा विद्या** श्रेष्ठ विद्या, कला-कौशल सीख लेनी चाहिए और **दुष्कुलात्** दुष्टकुल से **अपि** भी **स्त्रीरत्नम्** स्त्रीरत्न ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ—विष में से भी अमृत को, अशुद्ध पदार्थों में से सोने को, नीच मनुष्य से उत्तम विद्या को और दुष्टकुल से स्त्रीरत्न को ले लेना चाहिए।

स्त्रीणां द्विगुण आहारो बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
साहसं षड्गुणं चैव कामोऽष्टगुण उच्यते ॥१७॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

शब्दार्थ—**स्त्रीणाम्** पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का **आहारः** भोजन **द्विगुणः** दुगुना होता है, **तासाम्** उनकी **बुद्धिः** बुद्धि **चतुर्गुणा** चौगुनी होती है, **साहसम्** साहस **एव** भी **षड्गुणम्** छह गुना होता है **च** और **कामः** काम **अष्टगुणः** आठगुना **उच्यते** कहा जाता है।

भावार्थ—पुरुषों से स्त्रियों का आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, साहस छहगुना और काम आठगुना कहा गया है।

विमर्श—इस श्लोक में नारी-निन्दा नहीं है अपितु नारी की स्थिति का स्वाभाविक चित्रण है। स्त्रियाँ गर्भधारण करती हैं, सन्तानों का पालन-पोषण करती हैं, अतः उनका आहार पुरुषों से दुगुना होना ही चाहिए।

स्त्री की बुद्धि पुरुष की अपेक्षा चौगुनी होती है, यह बात तो इसी से सिद्ध है कि आजकल विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में प्रायः लड़कियाँ ही प्रथम स्थान प्राप्त करती हैं। मनुष्य पच्चीस वर्ष

में युवा होता है और नारी सोलह वर्ष में। पुरुष पच्चीस वर्ष में जितना सीखता है, नारी उतना सोलह वर्ष में सीख लेती है। इससे भी यह सिद्ध है कि स्त्री की बुद्धि पुरुष की अपेक्षा तीव्र होती है।

एक बात और—स्त्रियाँ स्वेटर बुनती जाती हैं, एक भी फंदा गलत नहीं होता, बच्चे को खिलाती जाती हैं, आपस में बातें भी कर लेती हैं और व्याख्यान भी सुनती जाती हैं, अतः मनुष्य की अपेक्षा उनमें चौगुनी बुद्धि होती है। कोई भी पुरुष इतने काम एकसाथ नहीं कर सकता।

साहस स्त्रियों का स्वाभाविक गुण नहीं है, अतः यदि वे साहस करेंगी तो निश्चय ही विशेष साहस करेंगी और वह साहस पुरुष की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा होगा।

मैथुन के समय वीर्यस्खलित होने पर उस समय के लिए पुरुष की कामशान्ति हो जाती है। यही नहीं उसे 'मैथुन-वैराग्य' भी उत्पन्न होता है। इसीलिए वीर्य स्खलन के पश्चात् पुरुष शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से स्त्रीसेवन में असमर्थ होता है। पुरुषों के समान स्त्रियों में मैथुन के समय काम-शान्ति के लिए कोई स्वाभाविक क्रिया न होने से वाराङ्गनाएँ [वेश्याएँ] एक के पश्चात् एक—अनेक पुरुषों की काम-शान्ति कर सकती हैं। इसीलिए शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरुष की अपेक्षा वहुत अधिक कामुक होती है।

यह चाणक्य नीति-दर्पण का आर्यभाषानुवाद में
पहला अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलुब्धता ।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥१॥

शब्दार्थ—**अनृतम्** असत्य भाषण, **साहसम्** बिना सोचे-विचारे किसी काम में झटपट लग जाना, **माया** छल-कपट करना, धोखा देना, **मूर्खत्वम्** मूर्खता, **अतिलुब्धता** अत्यन्त लोलुपता, लोभी होना, **अशौचत्वम्** अपवित्रता और **निर्दयत्वम्** निर्दयता—ये **स्त्रीणाम्** स्त्रियों के **स्वभावजाः** स्वाभाविक, स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले **दोषाः** दोष हैं।

भावार्थ—झूठ बोलना, साहस, छल-कपट, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता और निर्दयता ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।

विमर्श—यह श्लोक निश्चितरूपेण प्रक्षिप्त है। जिस समय "**द्वारं किमेकं नरकस्य नारी**[1]।" स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी हीन मनोवृत्ति समाज में व्याप्त हो गई थी, तब किसी ने इस श्लोक की रचना करके 'चाणक्यनीति' में इसका प्रक्षेप कर दिया।

क्या मूर्खता नारी का स्वाभाविक गुण है ? यदि यह स्वाभाविक गुण है तो किसी भी नारी को ज्ञान नहीं होना चाहिए था। क्या निर्दयता नारी का स्वाभाविक गुण है ? नारी तो साक्षात् दया की मूर्ति होती है। चाणक्य जैसा बुद्धिमान् ऐसी मूर्खतापूर्ण बात नहीं लिख सकता।

क्या असत्य बोलना स्त्री का स्वाभाविक गुण है ? यदि असत्य-भाषण नारी का स्वाभाविक गुण हो तो वह सत्य तो कभी बोल ही नहीं सकती। जब वह सत्य बोल ही नहीं सकती तो पति से, पुत्रों से, सास-श्वसुर से हर समय असत्य बोलने के कारण घर का वातावरण

---

१. श्री शंकराचार्य विरचित प्रश्नोत्तरी श्लोक ३
अर्थ है—नरक का प्रधान अथवा एकमात्र द्वार कौनसा है ? उत्तर—नारी।

अविश्वास से भरा हुआ और नरक तुल्य बन जाएगा।

इसी प्रकार श्लोक में वर्णित अन्य दोष भी असत्य ही हैं।

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराङ्गना।
विभवो दानशक्तिश्च नाऽल्पस्य तपसः फलम् ॥२॥

शब्दार्थ—**भोज्यम्** भोजन के लिए अच्छे-अच्छे भोज्य पदार्थों का उपलब्ध होना **च** और **भोजनशक्तिः** उन पदार्थों के मिलने पर भोजन की शक्ति, पचाने की क्षमता का होना, **वराङ्गना** सुन्दरी पत्नी का मिलना **रतिशक्तिः** और उसके मिलने पर उसके उपभोग के लिए अच्छी कामशक्ति का होना, **विभवः** धन का होना **च** और **दानशक्तिः** उसके साथ दानशीलता का होना—ऐसे संयोग **अल्पस्य** थोड़े **तपसः** तप का **फलम्** फल **न** नहीं है, अर्थात् महान् तप के कारण ही ऐसे संयोग बन पाते हैं।

भावार्थ—भोजन के योग्य पदार्थ और भोजन की शक्ति, सुन्दरी स्त्री और उसे भोगने के लिए कामशक्ति, विपुल धनराशि तथा उसके साथ दान देने की भावना—ऐसे संयोगों का होना थोड़े तप का फल नहीं है अर्थात् महान् तप के फलस्वरूप ही ऐसे संयोग होते हैं।

विमर्श—उपर्युक्त प्रकार के सम-संयोगों का निर्माण विधाता करता ही नहीं है वह प्रायः विषम संयोग ही बनाता है, इसीलिए भोजन और भोजनशक्ति तथा पति-पत्नी के सम्बन्ध में सर्वत्र निम्न स्थिति दिखाई देती है—

जब चने थे तब दाँत न थे।
जब दाँत भये तो चने नहीं॥

यः सुन्दरस्तद् वनिता कुरूपा या सुन्दरी सा पतिरूपहीना।
यत्रोभयं तत्र दरिद्रता च विधेर्विचित्राणि विचेष्टितानि॥

जहाँ पुरुष सुन्दर है, वहाँ उसकी स्त्री कुरूप है। जहाँ पत्नी सुन्दरी है वहाँ उसका पति रूपरहित है। जहाँ दोनों बातें हैं वहाँ दरिद्रता का साम्राज्य है। विधाता की लीलाएँ बड़ी विचित्र हैं।

इसी प्रकार जिसके पास धन है, वह महाकंजूस है और जो उदार है उसके पास धन नहीं है।

जब कभी भोजन और भोजनशक्ति आदि तुल्य गुणों का संयोग होता है तब वह व्यक्ति के अपने पूर्वजन्म अथवा इस जन्म के महान् तप का फल होता है।

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दाऽनुगामिनी ।
विभवे यश्च सन्तुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि ।।३।।

शब्दार्थ—**यस्य** जिसका **पुत्रः** पुत्र **वशीभूतः** वश में रहता है **भार्या** पत्नी **छन्द-अनुगामिनी** पति की इच्छा के अनुसार आचरण करती है, चलती है **च** और **यः** जो पुरुष **विभवे** धन में **सन्तुष्टः** सन्तुष्ट है अर्थात् प्रभूत धनैश्वर्य से सम्पन्न है **तस्य** उसके लिए **इह एव** यहाँ ही इस पृथिवी पर ही **स्वर्गः** स्वर्ग है ।

भावार्थ—जिसका पुत्र वश में है, स्त्री आज्ञानुसार चलनेवाली है, धन की जिसके पास न्यूनता नहीं है ऐसे मनुष्य के लिए इसी संसार में स्वर्ग है ।

विमर्श—ठीक इससे मिलती-जुलती बात किसी अन्य विचारक ने भी कही है—

अस्ति पुत्रो वशे यस्य भृत्यो भार्या तथैव च ।
अभावे सति सन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले ।।

जिसका पुत्र, सेवक और पत्नी वश में हैं, धन का अभाव होने पर भी जो सन्तुष्ट है, वह मनुष्य भूतल पर ही स्वर्ग में रहता है ।

वस्तुतः स्वर्ग और नरक यहीं हैं । आचार्य कपिल अपनी माता देवहूति को समझाते हुए कहते हैं—

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति माता प्रचक्षते ।
या यातना वै नारक्यास्ता इहाप्युपलक्षिताः ।।

—भा० पु० ३।२०।२६

हे मातः ! नरक और स्वर्ग तो यहीं हैं । जो-जो पीड़ाएँ नरक में मिलती हैं वे सब यहाँ भी दिखाई देती हैं ।

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यस्य विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ।।४।।

शब्दार्थ—**पुत्राः** पुत्र **ते** वे ही हैं **ये** जो **पितुः** पिता के **भक्ताः** भक्त हैं, **पिता** पिता **सः** वही है **यः तु** जो तो **पोषकः** पुत्रों का पालन-पोषण करता है । **मित्रम्** मित्र **तत्** वही है **यस्य** जिसका **विश्वासः** विश्वास किया जा सके और **भार्या** स्त्री **सा** वही है **यत्र** जिससे **निर्वृतिः** सुख की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—पुत्र वही है जो पिता का भक्त है, पिता वह है जो पुत्रों

का पालन-पोषण करता है, मित्र वह है जिस पर विश्वास हो और पत्नी वह है जिससे सुख प्राप्त हो।

विमर्श—पुत्र वही है जो पिता का भक्त है। इस विषय में शुक्र-नीति के निम्न श्लोक पठनीय हैं—

प्राप्याऽपि महतीं वृद्धिं वर्तेत पितुराज्ञया।
पुत्रस्य पितुराज्ञाऽपि परमं भूषणं स्मृतम्॥

—शुक्र० २।३८

अत्यन्त उन्नत अवस्था, उन्नति के शिखर पर पहुँचकर भी पुत्र पिता की आज्ञानुसार ही चले, क्योंकि पुत्र के लिए पिता की आज्ञा का पालन करना परम भूषण है।

तत्कर्म नियतं कुर्याद्येन तुष्टो भवेत् पिता।
तन्न कुर्याद्येन पिता मनागपि विषीदति॥

—शुक० २।४४

जिस कार्य से पिता प्रसन्न हों, उस कार्य को नियतरूप से अवश्य करना चाहिए और जिस कार्य से पिता को थोड़ा भी दुःख हो, उसे कदापि नहीं करना चाहिए।

इसी आशय का निम्न श्लोक भी मनन करने योग्य है—

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं
यदेतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते॥

जो अपने उत्तम आचरणों से पिता को प्रसन्न करे, वस्तुतः वही पुत्र है। जो सदा पति का कल्याण चाहे वही पत्नी है। जो सुख और दुःख में मित्र के साथ समान व्यवहार रखे वही मित्र है—संसार में ये तीनों बातें पुण्यकर्माओं को ही प्राप्त होती हैं।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥५॥

शब्दार्थ—जो **परोक्षे** पीठ-पीछे **कार्यहन्तारम्** कार्य को बिगाड़े और **प्रत्यक्षम्** सम्मुख, सामने **प्रियवादिनम्** मीठी-मीठी बातें बनाये **तादृशम्** ऐसे **मित्रम्** मित्र को **पयोमुखम्** मुख पर दूध लगे हुए परन्तु भीतर **विष कुम्भम्** विष-भरे हुए घड़े के समान **वर्जयेत्** त्याग देना चाहिए।

भावार्थ—जो मुख पर तो चिकनी-चुपड़ी बातें बनाये और पीठ पीछे कार्य को बिगाड़ दे, ऐसे मित्र को त्याग देना चाहिए, क्योंकि वह तो उस घड़े के समान है जिसके ऊपर तो दूध लगा हो और भीतर विष भरा हो।

न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चाऽपि न विश्वसेत्।
कदाचित् कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत् ॥६॥

शब्दार्थ—**कुमित्रे** कुमित्र, खोटे मित्र पर **न विश्वसेत्** कदापि विश्वास न करे **च** और **मित्रे** सुमित्र पर **च+अपि** भी **न विश्वसेत्** विश्वास न करे, क्योंकि ऐसा न हो कि **कदाचित्** किसी समय **कुपितम्** क्रुद्ध, रुष्ट **मित्रम्** मित्र **सर्वम्** सब **गुह्यम्** गुप्त बातों, रहस्यों, भेदों को **प्रकाशयेत्** प्रकट कर दे।

भावार्थ—कुमित्र पर तो विश्वास करना ही नहीं चाहिए, सुमित्र पर भी विश्वास न करे, क्योंकि यदि कभी वह रुष्ट हो गया तो सारे रहस्यों का भण्डा फोड़ देगा।

विमर्श—वेद में कहा है—

अभयं मित्रादभयममित्रात्। —अथर्व० १९।१५।६

हमें मित्र से निर्भयता हो, हमें अमित्र=शत्रु से निर्भयता हो।

वेद में पहले मित्र से निर्भय होने की कामना की गई है। मित्र से निर्भय होने की कामना इसीलिए की गई है कि कुपित होने पर वह सारे भेदों को प्रकट कर सकता है।

मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्ये चाऽपि नियोजयेत् ॥७॥

शब्दार्थ—**मनसा** मन के द्वारा **चिन्तितम्** सोचे हुए **कार्यम्** कार्य को **वाचा** वचन से, वाणी से **न एव** नहीं **प्रकाशयेत्** प्रकट करे अपितु **मन्त्रेण** मन्त्रणा द्वारा, मननपूर्वक **रक्षयेत्** उसकी रक्षा करे **च** और **गूढम्** चुपके-चुपके **अपि** ही उसे **कार्ये** कार्य में **नियोजयेत्** परिणत करे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि मन के द्वारा विचारे हुए कार्य को वाणी द्वारा प्रकट न करे अपितु मनन-पूर्वक उसकी रक्षा करते हुए चुपके-चुपके उसे कार्य में परिणत कर दे।

विमर्श—वेद में कहा है—

स्वेन क्रतुना वदेत्। —ऋ० १०।३१।२

मनुष्य अपने कर्म के द्वारा बोले, जो सोचे या कहे उसे करके दिखाये।

कष्टं च खलु मूर्खत्वं कष्टं च खलु यौवनम् ।
कष्टात्कष्टतरं चैव परगेहनिवासनम् ॥८॥[1]

शब्दार्थ—**मूर्खत्वम्** मूर्खता **खलु च** निश्चय ही **कष्टम्** कष्टदायक होती है **च** और **यौवनम्** यौवन-अवस्था, जवानी **खलु** भी **कष्टम्** दुःख-दायक होती है **च** तथा **परगेह-निवासम्** दूसरे के घर में निवास करना तो **कष्टात् कष्टतरम्** अत्यन्त कष्टदायक **एव** ही होता है।

भावार्थ—मूर्खता कष्टदायक है, यौवन भी कष्टदायक है और सबसे अधिक कष्टदायक है—दूसरे के घर में निवास करना।

विमर्श—मूर्खता कष्टदायक है—

न मौर्ख्यादधिको लोके कश्चिदस्तीह दुःखदः ।

—योगवा० उप० २६।५७

मूर्खता से बढ़कर और कोई संसार में दुःख देनेवाला नहीं है।

यौवन कष्टदायक है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक—इनमें से एक-एक भी [प्रत्येक] अनर्थ का कारण है, फिर जहाँ ये चारों मिल जाएँ, वहाँ का तो कहना ही क्या ?

दूसरे के घर में वास—

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—**को मोदते ?** संसार में सुखी कौन है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वगृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥

—महा० वन० ३१३।११५

१. इस श्लोक का एक पाठ इस प्रकार भी है—

कष्टं खलु मूर्खत्वं कष्टं खलु यौवने च दारिद्र्यम् ।
कष्टादपि कष्टतरं परगृहवासः प्रवासश्च ॥

मूर्खता कष्टदायक होती है, यौवन-अवस्था में दरिद्रता कष्टदायक है और सबसे अधिक कष्टदायक दूसरे के घर में वास और प्रवास करना है।

हे जलचर यक्ष ! जो किसी का ऋणी नहीं है, जो परदेश में नहीं है, वह भले ही पाँचवे या छठे दिन अपने घर में शाक पकाकर खाता ही, फिर भी सुखी है।

विना कार्येण ये मूढा गच्छन्ति परमन्दिरम्।
अवश्यं लघुतां यान्ति कृष्णपक्षे यथा शशी॥

जो मूर्ख बिना किसी कार्य के दूसरे के घर में जाते हैं, वे निश्चय ही लघुता को प्राप्त होते हैं, जैसे कृष्णपक्ष का चन्द्रमा।

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥९॥

शब्दार्थ—**शैले शैले** पर्वत-पर्वत पर, प्रत्येक पर्वत पर अथवा सब पर्वतों पर **माणिक्यम्** माणिक्य **न** नहीं होता **गजे गजे** प्रत्येक हाथी के मस्तक में **मौक्तिकम्** मोती **न** उत्पन्न नहीं होते, **साधवः** सज्जन पुरुष **सर्वत्र** सब स्थानों पर **न हि** नहीं होते और **वने-वने** सब वनों में **चन्दनम्** चन्दन **न** नहीं होता।

भावार्थ—सब पर्वतों पर माणिक्य [लाल या गुलाबी रंग के रत्न] नहीं होते, सब हाथियों के मस्तक में मोती उत्पन्न नहीं होता, सज्जन पुरुष सर्वत्र नहीं मिलते और प्रत्येक वन में चन्दन नहीं होता।

विमर्श—किसी हिन्दी के कवि ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही है—

सिंहन के लेंहडे नहीं, हंसन की नहीं पाँत।
लालन की नहीं बोरियाँ, साधु न चले जमात॥

पुत्राश्च विविधैः शीलैर्नियोज्याः सततं बुधैः।
नीतिज्ञाः शीलसम्पन्ना भवन्ति कुलपूजिताः॥१०॥

शब्दार्थ—**बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा अपने **पुत्रः** पुत्र **च** और पुत्रियाँ **सततम्** निरन्तर, सदा **विविधैः** अनेक प्रकार के **शीलैः** सुशीलता, शुभ गुणों में **नियोज्याः** नियुक्त किये जाने चाहिएँ, क्योंकि **नीतिज्ञाः** नीति के जाननेवाले तथा **शीलसम्पन्नाः** शील से सम्पन्न व्यक्ति ही **कुल-पूजिताः** कुल में पूजनीय **भवन्ति** होते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान् पिता को चाहिए कि अपने पुत्र और पुत्रियों को अनेक प्रकार के शुभगुणों की शिक्षा दे, क्योंकि नीतिज्ञ और शील-वान् व्यक्तियों की ही कुल में पूजा होती है।

विमर्श—शील क्या है ? महर्षि व्यास लिखते हैं—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥

—महा० शा० १२४।६६

मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी से द्रोह=वैर न करना, सबपर दया करना और दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं।

माता शत्रुः पिता वैरी येन[1] बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥११॥

शब्दार्थ—**माता** वह माता **शत्रुः** शत्रु है और **पिता** पिता **वैरी** वैरी है **येन** जिसके द्वारा **बालकः** अपना बालक **न पाठितः** नहीं पढ़ाया गया। वह विद्याहीन बालक **सभामध्ये** विद्वानों की सभा में **न शोभते** वैसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होता है **यथा** जैसे **हंसमध्ये** हंसों के मध्ये मध्य में **बकः** बगुला।

भावार्थ—वे माता और पिता अपने सन्तानों के महाशत्रु हैं, जिन्होंने उनको उत्तम शिक्षा नहीं दिलाई, क्योंकि वे विद्याहीन बालक विद्वानों की सभा में ऐसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के मध्य में वगुला।

विशेष—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यह श्लोक 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय समुल्लास में वालशिक्षा विषय में उद्धृत किया है।

लालनाद् बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत् ॥१२॥

शब्दार्थ—**लालनात्** दुलार करने से, लाड़ लड़ाने से पुत्रों में **बहवः** बहुत-से **दोषाः** दोष उत्पन्न होते हैं और **ताडनात्** ताड़ना करने, दण्ड देने से **बहवः** वहुत-से **गुणाः** गुण आते हैं, **तस्मात्** इसलिए **पुत्रम्** पुत्र **च** और पुत्रियों को **शिष्यम्** शिष्य **च** और शिष्याओं को **ताडयेत्** ताड़ना करता रहे, दण्ड देता रहे **लालयेत् तु न** लालन तो कभी न करे।

भावार्थ—लाड़-प्यार से वच्चों में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और दण्ड देने से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं, अतः पुत्र-पुत्रियों, शिष्य-

१. पाठभेद—**याभ्यां**। अर्थ में कोई अन्तर नहीं आएगा।

शिष्याओं का ताड़न करना चाहिए, लाड़ नहीं लड़ाना चाहिए।

विमर्श—महर्षि पतञ्जलि व्याकरण महाभाष्य में लिखते हैं—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रियणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

—महा० ८।१।८

लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषमुक्त और ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। माता-पिता, अध्यापक लोग अमृतमय हाथों से ताड़न करते हैं, विषमय हाथों से नहीं। वे ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करके ऊपर से भय प्रदान और अन्दर से कृपा दृष्टि रखते हैं।

इस विषय में कबीरजी ने भी ठीक ही कहा है—

गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है गढ़-गढ़ काढ़े खोट।
अन्दर हाथ सहार दे बाहर मारे चोट॥

श्लोकेन वा तदर्धेन पादेनैकाक्षरेण वा।
अबन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः॥१३॥

शब्दार्थ—**श्लोकेन** एक श्लोक के अध्ययन, चिन्तन, मनन द्वारा **वा** अथवा **तत्+अर्धेन** आधे श्लोक द्वारा **वा** अथवा **पादेन** एक पाद, चौथाई श्लोक द्वारा अथवा **एक+अक्षरेण** एक अक्षर के द्वारा प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह **दान+अध्ययन+कर्मभिः** दान और अध्ययन आदि शुभकर्मों के द्वारा **दिवसम्** दिन को **अबन्ध्यम्** सार्थक **कुर्यात्** करे, दिन को व्यर्थ न जाने दे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन एक श्लोक [वेदमन्त्र] आधा श्लोक, एक पाद अथवा एक अक्षर का स्वाध्याय करे और दान-अध्ययन आदि शुभकर्मों को करता हुआ ही दिन को सफल बनाए, दिन को व्यर्थ न गँवाए।

विमर्श—दिन को सार्थक बनाने के सम्बन्ध में महात्मा विदुरजी ने लिखा है—

दिवसेनैव तत्कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत्कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत्॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवने तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत्॥

—विदुरनीति ३।६७-६८

मनुष्य को चाहिए कि दिन में ऐसा कार्य करे जिससे रात्रि में सुखपूर्वक रहे, सुख की नींद सोये, किसी प्रकार की चिन्ता न रहे। इसी प्रकार वर्ष के आठ मासों में ऐसा प्रयत्न करे कि वर्षा-ऋतु में सुखपूर्वक रह सके। आयु के पूर्वार्द्ध में ऐसा कर्म करे जिससे वृद्धावस्था में सुखपूर्वक रहे और जीवन-भर ऐसे कर्म करे जिससे मरने के पश्चात् परलोक में सुख से रहे।

कान्तावियोगः स्वजनापमानः
ऋणस्य शेषं कुनृपस्य सेवा।
दरिद्रभावो विषमा सभा च
विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥१४॥

शब्दार्थ—**कान्ता-वियोगः** पत्नी का वियोग, **स्वजन-अपमानः** अपने बन्धु-बान्धवों द्वारा अनादर **ऋणस्य शेषं** ऋण, कर्ज का शेष रहना, **कुनृपस्य सेवा** दुष्ट राजा की सेवा, **दरिद्रभावः** दरिद्रता **च** और **विषमा-सभा** अविवेकियों, स्वार्थियों की सभा—**एते** ये सब **अग्निम् विना** अग्नि के बिना ही **कायम्** शरीर को **प्रदहन्ति** दग्ध करते हैं, जलाते हैं।

भावार्थ—कान्ता का विरह, अपने जनों से प्राप्त अनादर, बचा हुआ ऋण, दुष्ट राजा की सेवा, दरिद्रता और मूर्खों की सभा—ये सब अग्नि के बिना ही शरीर को जलाते हैं।

नदीतीरे च ये वृक्षाः परगेहेषु कामिनी।
मन्त्रिहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यन्त्यसंशयम् ॥१५॥

शब्दार्थ—**ये** जो **वृक्षाः** वृक्ष **नदी-तीरे** नदी के किनारे पर होते हैं **च** और **परगेहेषु** दूसरे के घर में जाने या रहनेवाली **कामिनी** स्त्री **च** तथा **मन्त्रिहीनाः** मन्त्रियों से रहित **राजानः** राजा लोग **शीघ्रम्** अति शीघ्र **नश्यन्ति** नष्ट हो जाते हैं **असंशयम्** इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।

भावार्थ—नदी के किनारे पर उगे हुए वृक्ष, दूसरे के घर में जाने अथवा रहनेवाली स्त्री और मन्त्रियों से रहित राजा—ये सब निश्चय ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं बलं तथा ।
वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां परिचर्यिका ॥१६॥

शब्दार्थ—**विप्राणाम्** ब्राह्मणों का **बलम्** बल **च** और तेज **विद्या** विद्या है **तथा** और **राज्ञाम्** राजाओं का **बलम्** बल **सैन्यम्** सेना है, **वैश्यानाम्** वैश्यों का **बलम्** बल **वित्तम्** धन **च** और गोपालन आदि है, **शूद्राणाम्** शूद्रों का बल **परिचर्यिका** सेवा है।

भावार्थ—ब्राह्मणों का बल तेज और विद्या है, राजाओं का बल सेना है, वैश्यों का बल धन और पशु-पालन है तथा शूद्रों का बल सेवा है।

विमर्श—महात्मा विदुर ने लिखा है—

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥

—विदुरनीति २।७५

दुष्ट पुरुषों का बल हिंसा होता है, राजाओं का बल दण्डविधान है, स्त्रियों का बल सेवा है और गुणीजनों का बल क्षमा है।

और देखिए—

दुर्बलस्य बलं राजा बालानां रोदनं बलम् ।
बलं मूर्खस्य मौनित्वं चौराणामनृतं बलम् ॥

—चाणक्यशतकम् १।८१

दुर्बलों का बल राजा होता है, बालकों का बल रोना है, मूर्खों का बल मौन रहना है और चोरों का बल झूठ बोलना है।

निर्धनं पुरुषं वेश्या प्रजा भग्नं नृपं त्यजेत् ।
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाऽभ्यागता गृहम् ॥१७॥

शब्दार्थ—**वेश्या** वाराङ्गना **निर्धनम् पुरुषम्** धनरहित मनुष्य को **प्रजाः** प्रजा **भग्नं नृपम्** पराजित अथवा शक्तिहीन राजा को **त्यजेत्** त्याग देती है। **खगाः** पक्षिगण **वीतफलम्** फलरहित **वृक्षम्** वृक्ष को **च** और **अभि-आगताः** अतिथि लोग **भुक्त्वा** भोजन करके **गृहम्** घर को त्याग देते हैं।

भावार्थ—वेश्या निर्धन मनुष्य को, प्रजा पराजित राजा को, पक्षी फलरहित वृक्ष को और अतिथि भोजन करके घर को छोड़ देते हैं।

गृहीत्वा दक्षिणां विप्रास्त्यजन्ति यजमानकम् ।
प्राप्तविद्या गुरुं शिष्या दग्धाऽरण्यं मृगास्तथा ॥१८॥

शब्दार्थ—**विप्राः** ब्राह्मण **दक्षिणाम्** दक्षिणा **गृहीत्वा** लेकर **यजमानकम्** यजमान को **त्यजन्ति** त्याग देते हैं, **शिष्याः** शिष्यगण **प्राप्तविद्या** विद्या प्राप्त हो जाने पर **गुरुम्** गुरु को त्याग देते हैं **तथा** और **मृगः** मृग, पशु **दग्धारण्यम्** जले हुए वन को छोड़ देते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मण दक्षिणा लेकर यजमान को, शिष्य विद्या-प्राप्ति के पश्चात् गुरु को और पशु जले हुए वन को त्याग देते हैं।

दुराचारी च दुर्दृष्टिर्दुराऽऽवासी च दुर्जनः।
यन्मैत्री क्रियते पुम्भिर्नरः शीघ्रं विनश्यति ॥१९॥

शब्दार्थ—**दुराचारी** आचारहीन, पतित, **दुर्दृष्टिः** बुरी, खोटी दृष्टिवाला, **दुः आवासी** बुरे स्थान में बसनेवाला **च** और **दुर्जनः** दुर्जन, दुष्ट—**यदि** यदि इन **पुम्भिः** पुरुषों के साथ **मैत्री** मित्रता, मेल-जोल **क्रियते** किया जाता है तो वह मैत्री करनेवाला **नरः** मनुष्य **शीघ्रम्** बहुत जल्दी **विनश्यति** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि दुराचारी, कुदृष्टिवाले, बुरे स्थान में रहनेवाले और दुर्जन मनुष्य के साथ मित्रता न करे, क्योंकि इनके साथ मित्रता करनेवाला मनुष्य शीघ्र नष्ट हो जाता है।

विमर्श—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में अनुप्रासालंकार की सुन्दर छटा है। चाणक्यजी ने अन्यत्र भी दुर्जन को दूर रखने का आदेश दिया है—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः॥ —चाणक्यशत० ३।३५

विद्या के अलंकार से अलंकृत होने पर भी दुर्जन से दूर ही रहना चाहिए, क्योंकि मणि से भूषित होने पर भी क्या सर्प भयंकर नहीं होता?

दुर्जनः प्रियवादी च नैव विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाऽग्रे हृदि हलाहलं विषम्॥

—चाणक्यशत० ३।२८

दुर्जन और चापलूस [खुशामदी]—इनका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनकी जिह्वा के अग्रभाग पर तो मधु होता है परन्तु हृदय में हलाहल विष भरा होता है।

समाने शोभते प्रीतिः राज्ञि सेवा च शोभते।
वाणिज्यं व्यवहारेषु दिव्या स्त्री शोभते गृहे ॥२०॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

शब्दार्थ—**प्रीतिः** प्रेम **समाने** बराबरवालों में **शोभते** अच्छा लगता है **च** और **सेवा** सेवा **राज्ञि** राजा की **शोभते** शोभा पाती है, **व्यवहारेषु** व्यवसायों में **वाणिज्यम्** वणिज, व्यापार सोहता है तथा **गृहे** घर में **दिव्या** उत्तम गुणोंवाली **स्त्री** स्त्री **शोभते** सुशोभित होती है।

भावार्थ—प्रेम बराबरवालों में अच्छा लगता है, सेवा=नौकरी राजाओं की [सरकारी] उत्तम होती है, व्यवसायों में वणिज सर्वोत्तम है और उत्तम गुणवाली स्त्री घर में सुशोभित होती है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
दूसरा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना को न पीडितः ।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम् ॥१॥

शब्दार्थ—**कस्य** किसके **कुले** कुल में **दोषः** दोष **न+अस्ति** नहीं है ? **व्याधिना** रोग के द्वारा **कः** कौन **पीडितः न** पीड़ित नहीं हुआ ? **व्यसनम्** कष्ट **केन** किसको **न प्राप्तम्** नहीं मिला ? **निरन्तरम्** सदा **सौख्यम्** सुख **कस्य** किसको रहता है ?

भावार्थ—किसके कुल में दोष नहीं है ? रोग ने किसे नहीं सताया ? आपत्ति और कष्ट किसपर नहीं आये ? सदा सुख किसको रहता है ?

विमर्श—सदा सुख किसको रहता है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

—मेघदूत २।४६

नियम से सुख-ही-सुख अथवा दुःख-ही-दुःख सदा किसको रहता है ? मनुष्य की अवस्था पहिये के अरों की भाँति नीचे और ऊपर आती जाती रहती है ।

चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ।

दुःख और सुख पहिये की भाँति घूमते रहते हैं ।

चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः । —स्वप्ननाटक

चक्र के अरों की पंक्ति की भाँति मनुष्य का भाग्य भी बदलता रहता है ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखं मनुष्याणां चक्रवत्परिवर्तते ॥

—महा० शा० १७४।१६

---

१. यह श्लोक कुछ पाठभेद के साथ गुरुड़ पुराण [१०९।१७] में उपलब्ध है ।

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख है'—यह शाश्वत नियम है। मनुष्यों के सुख-दुःख पहिये की भाँति बदलते रहते हैं।

प्लूटार्क [Plutarch] ने भी लिखा है—

The wheel of Life is ever on ground,
While one side's up the other's on the ground.

जीवन का चक्र सदा पृथिवी पर विद्यमान है, जब इसका एक सिरा ऊपर होता है, तो दूसरा नीचे होता है।

मानव निराश मत हो—

When winter comes can spring be far behind ?

जब सरदी आती है तो क्या बहार [वसन्त] पीछे रह सकती है ?

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम्।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥२॥

शब्दार्थ—**आचारः** मनुष्य का आचार उसके **कुलम्** कुल-शील को **आख्याति** प्रकट करता है, **भाषणम्** बोल-चाल मनुष्य के **देशम्** देश को **आख्याति** बतलाती है, **सम्भ्रमः** मान-सम्मान **स्नेहम्** प्रेम को **आख्याति** बतलाता है और **वपुः** शरीर का संहनन **भोजनम्** उसके द्वारा सेवन किये जानेवाले अन्न को **आख्याति** प्रकट करता है।

भावार्थ—मनुष्य का आचार उसके कुल-शील को, बोल-चाल उसके देश को, मान-सम्मान उसके प्रेम को और शरीर का संहनन [गठन] उसके भोजन को प्रकट करते हैं।

विमर्श—शरीर का संहनन भोजन को प्रकट करता है—

यह कथन मनुष्य के नित्य-प्रति किये जानेवाले भोजन के सम्बन्ध में है। एकाध दिन किये जानेवाले भोजन के विषय में यह कथन नहीं है, क्योंकि एकाध दिन के अच्छे या बुरे भोजन का शरीर पर कोई दृश्य परिणाम नहीं होता। जब मनुष्य का भोजन सात्विक, स्निग्ध, रुचिकर और सन्तुलित [Balanced] रहता है, तब उसका शरीर सुसंहत होता है और निकृष्ट भोजन से शरीर कुसंहत हुआ करता है, अतः किसी मनुष्य के शरीर-संहनन को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह मनुष्य कैसा भोजन करता है।

सुकुले योजयेत्कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत्।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मे नियोजयेत् ॥३॥

शब्दार्थ—**कन्याम्** कन्या, पुत्री को **सुकुले** उत्तम कुल में **योजयेत्** देना चाहिए, **पुत्रम्** पुत्र को **विद्यासु** विद्या में **योजयेत्** लगाना चाहिए। **शत्रुम्** शत्रु को **व्यसने** कष्ट, दुःख, आपत्ति में **योजयेत्** फँसाना चाहिए, डालना चाहिए और **मित्रम्** मित्र को **धर्मे** धर्म में **नियोजयेत्** नियुक्त करना चाहिए।

भावार्थ—कन्या को श्रेष्ठ कुल में देना चाहिए, पुत्र को विद्याभ्यास में लगाना चाहिए, शत्रु को आपत्ति और कष्टों में डालना चाहिए तथा मित्र को धर्म-कार्यों में नियुक्त करना चाहिए।

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे ॥४॥

शब्दार्थ—**दुर्जनस्य** दुर्जन, दुष्ट की **च** और **सर्पस्य** साँप की तुलना की जाए तो इन दोनों में **सर्पः** साँप **वरम्** श्रेष्ठ है **दुर्जनः** न दुर्जन अच्छा नहीं है, क्योंकि **सर्पः** साँप **कालेन** समय आने पर ही **दंशति** काटता है परन्तु **दुर्जनः** दुष्ट, खल **तु** तो **पदे-पदे** पद-पद पर काटता है, हानि पहुँचाता है, बुराई करता है।

भावार्थ—दुर्जन और सर्प—इन दोनों में सर्प अच्छा है, दुर्जन नहीं, क्योंकि साँप तो काल आने पर ही काटता है परन्तु दुर्जन तो पद-पद पर हानि पहुँचाता है।

विमर्श—दुर्जन का शील कैसा होता है ? अवलोकन कीजिए—

दुर्जनस्य मुखे प्रीतिर्वाणी चन्दनशीतला।
हृदये तस्य दुर्बुद्धेः कुलिशादपि कर्कशम् ॥

—चाणक्यराजनीतिशास्त्रम् ३।३२

दुर्जन के मुख पर प्रसन्नता होती है, उसकी वाणी चन्दन के समान शीतल होती है परन्तु उस दुर्बुद्धि के हृदय में वज्र से भी अधिक कठोरता होती है।

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्याऽवसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम् ॥५॥

शब्दार्थ—**नृपाः** राजा लोग **कुलीनानाम्** कुलीनों का अपने यहाँ **एतत्+अर्थम्** इस प्रयोजन से, इसलिए **संग्रहम्** संग्रह **कुर्वन्ति** करते हैं, उन्हें इसलिए अपने पास रखते हैं कि **ते** वे **आदि-मध्य-अवसानेषु** आदि=उन्नति के समय, मध्य=ऐश्वर्य के क्षीण होने पर, अन्त=

विपत्ति के अवसरों में भी **नृपम्** राजा को **न त्यजन्ति** नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—राजा लोग अपने पास कुलीन लोगों का संग्रह इसलिए करते हैं कि वे उन्नति और अवनति, उत्कर्ष और विपत्ति, जय और पराजय—किसी भी अवस्था में राजा को नहीं छोड़ते।

विमर्श—कुलीनों का सम्पर्क नाश होने से बचाता है—

कुलीनैः सह सम्पर्कं पण्डितैः सह मित्रताम्।
ज्ञातिभिश्च समं मेलं कुर्वाणो न विनश्यति॥

—चाणक्यनीतिशास्त्रम् ५६

कुलीनों के साथ सम्पर्क, पण्डितों=विद्वानों के साथ मित्रता और बन्धुओं के साथ मेल करनेवाला मनुष्य कभी भी नष्ट नहीं होता।

प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः।
सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः॥६॥

शब्दार्थ—**सागराः** समुद्र **प्रलये** प्रलयकाल आने पर **किल** निश्चय ही **भिन्नमर्यादा भवन्ति** मर्यादा को त्याग देते हैं। **सागराः** समुद्र **भेदम्+इच्छन्ति** भेद=अलगाव की भी इच्छा करते हैं, अर्थात् किनारों को छोड़ देते हैं परन्तु **साधवः** सज्जन लोग **प्रलये+अपि** प्रलय आने पर भी, महान् कष्ट और आपत्ति आने पर भी **न** अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते।

भावार्थ--प्रलय के समय समुद्र अपनी मर्यादा को त्याग देते हैं और किनारों को छोड़ देते हैं अथवा तोड़ देते हैं परन्तु सज्जन पुरुष प्रलय के समान भयंकर आपत्ति और विपत्ति आने पर भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते।

विमर्श—सज्जनों का शील देखिए--

दुर्जनवचनाङ्गारैर्दग्धोऽपि न विप्रियं वदत्यार्यः।
अगरुरपि दह्यमानः स्वभावगन्धं परित्यजति किं नु॥

दुर्जन के वचनरूपी अंगारों से दग्ध होने पर भी आर्य=श्रेष्ठ, सज्जन पुरुष अनिष्ट वचन नहीं बोलता। क्या जलाई जाने पर भी अगरबत्ती अपनी स्वाभाविक गन्ध का त्याग कर देती है? कभी नहीं।

मूर्खस्तु परिहर्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः।
भिनत्ति वाक्शल्येन अदृष्टः कण्टको यथा॥७॥

शब्दार्थ—**मूर्खः तु** मूर्ख को तो **परिहर्तव्यः** त्याग देना चाहिए, क्योंकि वह तो **प्रत्यक्षतः** प्रत्यक्ष रूप में **द्विपदः** दो पैरोंवाला **पशुः** पशु है। वह **वाक्शल्येन** वाक्यरूपी बाणों से ऐसे **भिनत्ति** बींधता है, **यथा** जैसे **अदृष्टः** दिखाई न देनेवाला **कण्टकः** काँटा शरीर को बींधता है।

भावार्थ—मूर्ख से दूर रहना, उसे त्याग देना ही उचित है, क्योंकि वह प्रत्यक्षरूप में दो पैरोंवाला पशु है। वह वचनरूपी बाणों से मनुष्य को ऐसे ही बींधता है, जैसे अदृष्ट काँटा शरीर में घुसकर शरीर को बींधता रहता है।

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥८॥

शब्दार्थ—**रूपयौवन-सम्पन्नाः** रूप-लावण्य और यौवन से युक्त तथा **विशाल-कुल-सम्भवाः** बड़े कुल में जन्म लेने पर भी **विद्याहीनाः** विद्या से रहित मनुष्य **न शोभन्ते** वैसे ही सुशोभित नहीं होते **इव** जैसे **निर्गन्धाः** गन्धरहित **किंशुकाः** ढाक, टेसू के फूल शोभित नहीं होते।

भावार्थ—रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊँचे कुल में जन्म लेने पर भी विद्याविहीन मनुष्य ऐसे ही सुशोभित नहीं होता, जैसे गन्ध-रहित ढाक के फूल।

कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥९॥

शब्दार्थ—**कोकिलानाम्** कोयलों का **रूपम्** रूप, शोभा उनका **स्वरम्** स्वर है, **स्त्रीणाम्** स्त्रियों की **रूपम्** शोभा उनका **पतिव्रतम्** पतिव्रतधर्म है। **कुरूपाणाम्** कुरूपों का **रूपम्** रूप **विद्या** विद्या है और **तपस्विनाम्** तपस्वियों की **रूपम्** शोभा उनकी **क्षमा** क्षमाशीलता है।

भावार्थ—कोयलों का रूप स्वर, स्त्रियों का सौन्दर्य पतिव्रतधर्म, कुरूपों का रूप विद्या और तपस्वियों की शोभा क्षमाशीलता है।

त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्याऽर्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे आत्माऽर्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१०॥

शब्दार्थ—**कुलस्य-अर्थे** कुल की रक्षा, उन्नति, वृद्धि और सुख-शान्ति के लिए **एकम्** एक पुरुष को **त्यजेत्** त्याग देना चाहिए। **ग्रामस्य-अर्थे** ग्राम की रक्षा और सुख-समृद्धि के लिए **कुलम्** कुल को **त्यजेत्** छोड़ देना चाहिए। **जनपदस्य-अर्थे** प्रदेश के कल्याण के लिए

ग्रामम् गाँव को छोड़ देना चाहिए और **आत्म-अर्थे** अपनी आत्मा की उन्नति के लिए **पृथिवीम्** सम्पूर्ण भूमण्डल को **त्यजेत्** त्याग देना चाहिए।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि कुल की रक्षा के लिए एक पुरुष को त्याग दे, ग्राम की उन्नति के लिए कुल का बलिदान कर दे, जनपद की श्रीवृद्धि के लिए गाँव को तिलाञ्जलि दे दे और अपनी आत्मा की उन्नति के लिए सारी पृथिवी को त्याग दे।

विमर्श—इस श्लोक में कुल, ग्राम, देश और आत्मा के उत्थान एवं कल्याण के स्वर्णिम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौने च कलहो नास्ति नास्ति जागरिते भयम् ॥११॥

शब्दार्थ—**उद्योगे** उद्योग, पुरुषार्थ करने पर **दारिद्र्यम्** दरिद्रता **न+अस्ति** नहीं रहती, **जपतः** ईश्वर के 'ओ३म्' नाम का जप करने से **पातकम्** पाप **न+अस्ति** नहीं रहता **च** और **मौने** मौन रहने पर **कलहः** कलह, लड़ाई-झगड़ा **न+अस्ति** नहीं होता **जागरिते** जागनेवाले के समीप **भयम्** भय **न+अस्ति** नहीं रहता।

भावार्थ—पुरुषार्थी के पास दरिद्रता नहीं फटकती, जप करनेवाले के पास पाप नहीं रहता, मौन रहने पर लड़ाई-झगड़ा नहीं होता और जागनेवाले को भय नहीं होता।

विमर्श—पुरुषार्थ करने पर दरिद्रता नहीं रहती—

उद्योगः खलु कर्तव्यः फलं मार्जारवद्भवेत्।
जन्मप्रभृति गौर्नास्ति पयः पिबति नित्यशः॥

सतत उद्योग करना चाहिए, उद्योग=पुरुषार्थ का फल बिलाव के समान प्राप्त होता है, उसके पास जन्म से ही गौ नहीं है, फिर भी प्रति-दिन दूध पीता है।

जप करनेवाले को पाप नहीं लगता—

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः॥

जकार जन्म का विच्छेद करनेवाला, आवागमन से छुड़ानेवाला है और पकार पापनाशक है। जन्म और पाप का विनाशक होने से इसे जप कहते हैं।

परमात्मा का सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ और मुख्य नाम 'ओ३म्' है, अतः

जप 'ओ३म्' का ही करना चाहिए। चाणक्यजी स्वयं कहते हैं—

ओङ्कारशब्दो विप्राणां यस्य राष्ट्रे प्रवर्तते।
स राजा हि भवेद्योगी व्याधिभिश्च न पीड्यते॥

—चाणक्यराजनीतिशास्त्रम् ४।९

जिस राजा के राष्ट्र में ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित ओङ्कार का नाद गूँजता है, वही राजा योगी होता है और व्याधियों से पीड़ित नहीं होता।

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।
अतिदानं बलिर्दत्त्वा अति सर्वत्र वर्जयेत् ॥१२॥

शब्दार्थ—**अतिरूपेण** अत्यधिक सौन्दर्य के कारण **वै** ही **सीता** सीता का अपहरण हुआ **अतिगर्वेण** अत्यन्त गर्व के कारण **रावणः** रावण मारा गया, मौत के घाट उतारा गया, **अतिदानम्** बहुत अधिक दान **दत्त्वा** देकर **बलिः** राजा बलि बन्धन को प्राप्त हुआ, अतः **अति** 'अति' **सर्वत्र** सब जगह **वर्जयेत्** छोड़ देनी चाहिए।

भावार्थ—अत्यधिक सुन्दरता के कारण सीता का हरण हुआ, अत्यन्त गर्व के कारण रावण मारा गया, बहुत अधिक दान देने के कारण राजा बलि को बन्धन में बँधना पड़ा—इन सब दृष्टान्तों को देखकर सर्वत्र 'अति' को छोड़ देना चाहिए।

विमर्श—किसी हिन्दी के कवि ने भी कहा है—

अति का भला न बोलना अति की भली न चुप्प।
अति का भला न बरसना अति की भली न धुप्प॥

किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है कि अति के योग से आचार जैसा पवित्र शब्द भी अत्याचार बन जाता है—

अति की भली न बात कोउ, कैसी हू संसार।
होत तुरत आचार हू, अति सों अत्याचार॥

को हि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१३॥

शब्दार्थ—**समर्थानाम्** शक्तिशालियों के लिए **कः हि** कौन-सा काम **भारः** कठिन है? **व्यवसायिनाम्** व्यापारियों के लिए **किम्** कौन-सा स्थान **दूरम्** दूर है? **सविद्यानाम्** विद्वानों के लिए **विदेशः** विदेश **कः** क्या है? **प्रियवादिनाम्** मधुरभाषियों के लिए **परः** पराया **कः** कौन है?

भावार्थ—शक्तिशालियों के लिए कौन-सा काम कठिन है ? कोई भी नहीं। व्यापारियों के लिए कौन-सा स्थान दूर है ? कोई-सा भी नहीं। विद्वानों के लिए विदेश कौन-सा है ? कोई भी नहीं। मधुर-भाषियों के लिए पराया कौन है ? कोई भी नहीं, सभी उसके अपने हो जाते हैं।

एकेनाऽपि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं तथा ॥१४॥

शब्दार्थ—**एकेन** एक **अपि** भी **पुष्पितेन** पुष्पों से लदे हुए और **सुगन्धिना** उत्तम गन्ध से युक्त **सुवृक्षेण** उत्तम वृक्ष से **तत्** वह **सर्वम्** सारा **वनम्** वन **वासितम्** सुवासित हो जाता है **तथा** वैसे ही **सुपुत्रेण** उत्तम गुणों से युक्त पुत्र से **कुलम्** सारा कुल सुभूषित हो जाता है।

भावार्थ—जैसे पुष्पयुक्त और गन्ध से भरपूर एक ही वृक्ष से सारा वन महक उठता है, वैसे ही एक ही गुणी पुत्र सारे कुल को चार चाँद लगा देता है।

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं तथा ॥१५॥

शब्दार्थ—**वह्निना** आग से **दह्यमानेन** जलते हुए **एकेन** एक ही **शुष्कवृक्षेण** सूखे वृक्ष से **तत्** वह **सर्वम्** सारा **वनम्** वन **दह्यते** जल जाता है [जिस वन में वह सूखा वृक्ष होता है] **तथा** उसी प्रकार **कुपुत्रेण** कुपुत्र, मूर्ख, धूर्त पुत्र से **कुलम्** सारा कुल नष्ट हो जाता है, उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है।

भावार्थ—जैसे अग्नि से जलते हुए एक ही सूखे वृक्ष से वह सारा वन, जिसमें वह वृक्ष होता है, जल जाता है, वैसे ही एक ही कुपुत्र से सारे कुल का गौरव, मान और प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है।

एकेनाऽपि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥१६॥

शब्दार्थ—**विद्यायुक्तेन** विद्या से सुभूषित और **साधुना** सज्जन स्वभाववाले **एकेन** एक **अपि** भी **सुपुत्रेण** सुपुत्र से **सर्वम्** सारा **कुलम्** कुल, परिवार ऐसे **आह्लादितम्** आनन्दित और प्रमुदित हो उठता है **यथा** जैसे **चन्द्रेण** चन्द्रमा के उदित होने से **शर्वरी** रात्रि प्रकाशित हो जाती है।

भावार्थ—विद्वान् और सदाचारी एक ही पुत्र से सारा परिवार ऐसे ही आनन्दित हो जाता है, जैसे चन्द्रमा के निकलने पर रात्रि प्रकाशमान हो जाती है।

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम् ॥१७॥

शब्दार्थ—**शोकसन्तापकारकैः** शोकसन्ताप उत्पन्न करनेवाले, हृदय को जलानेवाले **बहुभिः** बहुत-से **पुत्रैः** पुत्रों के **जातैः** उत्पन्न होने से **किम्** क्या लाभ ? **कुल+आलम्बी** कुल को सहारा देनेवाला **एकः** एक ही पुत्र **वरम्** श्रेष्ठ है, **यत्र** जिसके आश्रय से **कुलम्** सारा कुल **विश्राम्यते** विश्राम पाता है, सुख भोगता है।

भावार्थ—शोकदायक और हृदय को जलानेवाले अनेक पुत्रों के उत्पन्न होने से क्या लाभ ? कुल को सहारा देनेवाला एक ही पुत्र उत्तम है, जिसके आश्रय में सारा परिवार सुख भोगता है।

विमर्श—स्त्रियाँ श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न करें। भीरु और कायर सन्तान पैदा न करें—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥

कोई भी नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे जो उत्साहशून्य, आनन्द-रहित, शक्तिहीन और शत्रु के आनन्द को बढ़ानेवाला हो।

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥१८॥

शब्दार्थ—**पञ्च** पाँच **वर्षाणि** वर्ष तक पुत्र का **लालयेत्** लालन, लाड़-प्यार, दुलार करना चाहिए, **दश** दस **वर्षाणि** वर्ष तक **ताडयेत्** उसका ताड़न, दण्डप्रदान आदि करना चाहिए, **षोडशे** सोलहवें **वर्षे प्राप्ते तु** वर्ष के लगते ही **पुत्रम्** पुत्र के साथ **मित्रवत्** मित्र के समान **आचरेत्** व्यवहार करना चाहिए।

भावार्थ—पाँच वर्ष तक पुत्र के साथ प्यार और दुलार करना चाहिए तत्पश्चात् दस वर्ष तक ताड़ना करनी चाहिए और सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होते ही पुत्र के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।

उपसर्गेऽन्यचक्रे च दुर्भिक्षे च भयावहे।
असाधुजनसम्पर्के यः पलायेत् स जीवति ॥१९॥

शब्दार्थ—**उपसर्गे** आधिदैविक [अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि] अथवा आधिभौतिक [युद्ध आदि] उपद्रव उठने पर **च** महामारी आदि फैलने पर **अन्यचक्रे** शत्रु के आक्रमण करने पर **च** तथा **भयावहे** भयानक **दुर्भिक्षे** अकाल पड़ने पर और **असाधुजनसम्पर्के** दुष्ट, खल, नीचजनों का संग होने पर **यः** जो **पलायेत्** भाग जाता है **सः** वही **जीवति** जीवित रहता है।

भावार्थ—उपद्रव उठने पर, शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर, भयंकर दुर्भिक्ष में और दुष्टों का संग होने पर जो भागता है, वही जीवित रहता है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
जन्म-जन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम् ॥२०॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिसके पास **धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणाम्** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में से **एकः** एक **अपि** भी **न** नहीं **विद्यते** है, **तस्य** उसे **मर्त्येषु** मनुष्यों में, मनुष्य योनि में अथवा मर्त्यलोक में **जन्म-जन्मनि** जन्म-जन्म में, बार-बार जन्म लेकर **केवलम्** केवल **मरणम्** मरने का ही लाभ होता है।

भावार्थ—जिस मनुष्य ने अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में से एक भी प्राप्त नहीं किया, उसे मनुष्य योनि में बारम्बार जन्म लेकर बार-बार मरने का ही लाभ प्राप्त होता है।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम् ।
दम्पत्योः कलहो नाऽस्ति तत्र श्रीः स्वयमागता ॥२१॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

शब्दार्थ—**यत्र** जहाँ **मूर्खाः** मूर्ख लोग **न पूज्यन्ते** नहीं पूजे जाते **यत्र** जहाँ **धान्यम्** अन्न आदि **सुसञ्चितम्** विपुल मात्रा में सञ्चित रहते हैं और जहाँ **दम्पत्योः** दम्पती में **कलहः** लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद **न+अस्ति** नहीं होता **तत्र** वहाँ **श्रीः** धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शोभा और लक्ष्मी **स्वयम्** अपने आप **आगता** आकर निवास करती है।

भावार्थ—जहाँ मूर्खों की पूजा नहीं होती, जहाँ अन्न, धान्य विपुल मात्रा में सञ्चित रहते हैं, जहाँ पति-पत्नी में लड़ाई-झगड़ा नहीं होता, वहाँ श्री=लक्ष्मी बिना बुलाये स्वयं आकर निवास करती है।

विमर्श—जहाँ मूर्खों की पूजा होती है, वहाँ लक्ष्मी नहीं आ सकती, वहाँ तो विनाश का ताण्डव निवास करता है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

—स्क० पु० माहेश्वर खण्ड ३।४५

जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है और पूजनीयों का तिरस्कार होता है, वहाँ तीन बातें होती हैं—दुर्भिक्ष=अकाल, मृत्यु और भय।

लक्ष्मी कहाँ रहती है? जहाँ पति-पत्नी में लड़ाई-झगड़ा नहीं होता। किसी ने लक्ष्मी से पूछा—"तू कहाँ रहती है?" वह बोली—

वसामि नारीषु पतिव्रतासु।—महा० अनु० ११।१४

मैं पतिव्रता नारियों में निवास करती हूँ।

दम्पत्योः समता नास्ति यत्र यत्र हि मन्दिरे।
अलक्ष्मीस्तत्र तत्रैव विफलं जीवनं तयोः॥

—ब्रह्म० पु० कृष्ण ६९।६४

जिस-जिस घर में पति-पत्नी में समता नहीं है, वहीं-वहीं निर्धनता है और उन दोनों का जीवन निष्फल है।

यह चाणक्यनीति दर्पण का आर्यभाषानुवाद में
तीसरा अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥१॥

शब्दार्थ—**आयुः** आयु [गर्भ अथवा जन्म से लेकर मृत्यु के मध्य की अवधि] **च** तथा **कर्म** कर्म **च** और **वित्तम्** धन, **विद्या** विद्या **च** और **निधनम्** मृत्यु **एव** भी— **एतानि** ये **पञ्च** पाँच बातें **देहिनः** शरीरधारी जीव के **गर्भस्थस्य** गर्भ में स्थित होने के समय **एव** ही **सृज्यन्ते** रच जाती हैं, निश्चित हो जाती हैं।

भावार्थ—जीव जब गर्भ में होता है, उसी समय उसकी आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु—ये पाँच बातें निश्चित हो जाती हैं।

विमर्श— पूर्वजन्म के कर्मों का फल निश्चितरूपेण मिलता है। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ —यो० द० २।१३

अविद्या आदि पञ्चक्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने तक उसका फल जाति=पशु-पक्षी, मनुष्य आदि, आयु=जीवन-अवधि और भोग= सुख-दुःख का चक्र चलता रहता है। इन तीनों में जाति निश्चित है, इसे बदलना असम्भव है। शेष आयु और भोग को पुरुषार्थ से बदला जा सकता है।

आयु—कालमृत्यु भी होती है और अकाल भी—

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषा आगन्तवाः स्मृताः॥ —सुश्रुत

अथर्ववेदवेत्ताओं का कहना है कि मनुष्य के जीवन में एक-सौ एक बार मृत्यु होने के योग आते हैं, उनमें एक कालमृत्यु और शेष अकाल-मृत्यु होती हैं।

वैद्यकशास्त्र अपमृत्यु=अकालमृत्यु को सिद्ध करता है, यदि अप-

मृत्यु न होती तो वैद्यकशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं होती।

शुद्ध खान-पान, सदाचार आदि से आयु बढ़ सकती है और अशुद्ध खान-पान, रहन-सहन तथा दुराचार से आयु घटती है।

कर्म—यदि कर्म निश्चित हैं कि यह व्यक्ति 'ऐसे ऐसे ही कर्म करेगा' तो फिर सारे शास्त्र और उपदेश व्यर्थ हो जाएँगे। कर्म निश्चित हैं तो जीव को पाप या पुण्य कर्मों का फल भी नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि जीव ने कर्म अपनी इच्छा से न करके परवशता से किये हैं।

धन—यदि धन की उपलब्धि भी निश्चित है तब व्यापार, नौकरी और पुरुषार्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, जो भाग्य में होगा मिल जाएगा।

विद्या—विद्या निश्चित है तो सारे विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय बन्द करा देने चाहिएँ। पढ़ने-लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, स्वयं ही सूझ उठेगा ज्ञानी।

मृत्यु का विवेचन आयु के साथ ही हो गया।

मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और विधाता है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही धन और विद्या प्राप्त करता है।

साधुभ्यस्ते निवर्तन्ते पुत्रा मित्राणि बान्धवाः।
ये च तैः सह गन्तारस्तद्धर्मात्सुकृतं कुलम् ॥२॥

शब्दार्थ—**पुत्राः** पुत्र, **मित्राणि** मित्र और **बान्धवाः** बन्धु-बान्धव—**ते** ये सब **साधुभ्यः** साधुओं से **निवर्तन्ते** निवृत्त=विमुख हो जाते हैं **च** परन्तु **ये** जो **तैः सह** उन साधुओं के साथ **गन्तारः** गमन करते हैं, उनका सत्सङ्ग करते हैं, उनके अनुकूल आचरण करते हैं **तत् धर्मात्** उस पुण्य से **कुलम्** उनका सारा कुल, परिवार **सुकृतम्** सुकृति बन जाता है।

भावार्थ—पुत्र, मित्र और बन्धुगण साधुओं से विमुख रहते हैं परन्तु जो लोग साधुओं के अनुकूल चलते हैं, उनके उस पण्य से उनका सम्पूर्ण कुल कृतकृत्य हो जाता है।

दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्सी कूर्मी च पक्षिणी।
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जनसंगतिः ॥३॥

शब्दार्थ—**मत्सी** मछली **कूर्मी** कछवी **च** और **पक्षिणी** मादा पक्षी, चिड़िया आदि जैसे क्रमशः **दर्शन-ध्यान-संस्पर्शैः** दर्शन, ध्यान और स्पर्श

से **शिशुम्** अपने-अपने बच्चे को **नित्यम्** सदा **पालयते** पालती हैं **तथा** उसी प्रकार **सज्जनसंगतिः** श्रेष्ठ पुरुषों की संगति भी मनुष्यों का पालन करती है, उनका भला करती है।

भावार्थ—जैसे मछली दर्शन से, कछवी ध्यान से और पक्षिणी स्पर्श से अपने-अपने बच्चों का सदा पालन-पोषण करती हैं, ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषों की संगति मनुष्यों का पालन-पोषण करती है।

विमर्श—सत्सङ्ग की महिमा का वर्णन करते हुए भर्तृहरिजी ने ठीक ही कहा है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

—नीति० २२

सत्सङ्गति बुद्धि की मन्दता को दूर करती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान को बढ़ाती और उच्चावस्था प्रदान करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को आह्लादित करती है और चहुँ दिशाओं में कीर्ति फैलाती है। भला बताओ, वह कौन-सी भलाई है जो सज्जनों की संगति से प्राप्त नहीं होती '

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति ॥४॥

शब्दार्थ—**यावत्** जबतक **हि** तो **अयम्** यह **देहः** शरीर **स्वस्थः** स्वस्थ, नीरोग है **च** और **यावत्** जबतक **मृत्युः** मौत **दूरतः** दूर है **तावत्** तबतक **आत्महितम्** आत्मा का कल्याण, धर्माचरण, पुण्यकर्म **कुर्यात्** कर लेने चाहिएँ, **प्राणान्ते** मृत्यु हो जाने पर **किम्** क्या **करिष्यति** करेगा अर्थात् कुछ नहीं कर सकेगा।

भावार्थ—जबतक शरीर नीरोग है और मृत्यु दूर है, तभीतक अपने आत्मकल्याण का उपाय कर लेना चाहिए, क्योंकि मृत्यु हो जाने पर कोई कुछ नहीं कर सकता।

विमर्श—यही बात भर्तृहरिजी ने कुछ विस्तार से कही है—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

—भर्तृहरि वैरा० ७६

जबतक शरीर स्वस्थ और रोगरहित है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक सभी इन्द्रियों की शक्ति भरपूर है, जबतक प्राणशक्ति क्षीण नहीं हुई है—तभीतक बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने आत्म-कल्याण के लिए महान् प्रयत्न करे, अन्यथा घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ होगा ?"

आत्मकल्याण के लिए क्या करें ? उत्तर प्रस्तुत है—

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यं महेश्वरम् ।
त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ॥

दिन-रात पुण्यकर्म करो, परमेश्वर का स्मरण करो, दुर्जनों का संग त्यागो और साधुओं=सज्जनों का सत्सङ्ग करो ।

परन्तु स्थिति यह है—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति गात्रम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
लोको न चात्महितमाचरतीति चित्रम् ॥

—चाणक्यराजनीतिशा० ४।२४

वृद्धावस्था भयंकर बाघिनी के समान भयभीत करती हुई सामने खड़ी है, रोग शत्रुओं की भाँति शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं । जैसे फूटे घड़े से पानी रिसता है, उसी प्रकार आयु भी क्षीण होती जा रही है, अहो ! फिर भी मनुष्य अपने आत्मकल्याण के साधन नहीं जुटाते, आश्चर्य ! महान् आश्चर्य ! !

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥५॥

शब्दार्थ—**विद्या** विद्या **कामधेनुगुणा**=कामधेनु के समानगुण वाली है, **हि** क्योंकि यह **अकाले** बिना समय के भी **फलदायिनी** फल देनेवाली है । यह विद्या **प्रवासे** प्रवास में, विदेश में **मातृसदृशी** माता के समान हित और रक्षा करनेवाली है, इसलिए **विद्या** विद्या को **गुप्तम्** छिपा हुआ **धनम्** धन **स्मृतम्** कहा गया है ।

भावार्थ—विद्या में कामधेनु के समान गुण हैं, यह असमय में भी फल देनेवाली है, यह विदेश में माता के समान रक्षक और हितकारिणी होती है, इसलिए विद्या को गुप्त=छिपा हुआ धन कहा गया है।

विमर्श—विद्या सचमुच कामधेनु है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
कीर्तिं च दिक्षु वितनोति ददाति लक्ष्मीं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकार्यों में नियुक्त करती है, दुःख को दूर करके पत्नी के समान आनन्द प्रदान करती है, चहुँ दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है, धन की प्राप्ति कराती है। कल्पवृक्ष की भाँति विद्या क्या नहीं देती? सभी कुछ तो प्रदान करती है।

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात्॥

हे विद्या देवि! तेरा कोश बड़ा विचित्र है, जितना-जितना खर्च करो उतना-उतना ही यह बढ़ता जाता है, परन्तु संग्रह करने से यह क्षय हो जाता है, घट जाता है।

वरमेको गुणी पुत्रो निर्गुणैश्च शतैरपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः॥६॥

शब्दार्थ—**शतैः** सैकड़ों **अपि** भी **निर्गुणैः** गुणरहित **च** और मूर्खों से **एकः** एक **गुणी** गुणवान् **पुत्रः** पुत्र **वरम्** श्रेष्ठ है, क्योंकि **चन्द्रः** चन्द्रमा **एकः** अकेला ही **तमः** अन्धकार का **हन्ति** नाश करता है **च** परन्तु **सहस्रशः** हजारों **ताराः** तारागण अन्धकार का नाश **न** नहीं करते, नहीं कर सकते।

भावार्थ—सैकड़ों गुणहीन पुत्रों की अपेक्षा एक भी गुणवान् पुत्र श्रेष्ठ है, क्योंकि चन्द्रमा ही अन्धकार का नाश करता है, हजारों तारे नहीं।

विमर्श—गुणी पुत्र तो सचमुच एक ही पर्याप्त है—

एकेनाऽपि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति रासभी ॥

एक ही सुपुत्र से सिंहनी वन में निर्भय होकर सोती है, इसके विपरीत दस पुत्र होने पर भी गधी भार ढोती है।

मूर्खश्चिरायुर्जातोऽपि तस्माज्जातमृतो वरः ।
मृतः स चाऽल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥७॥

शब्दार्थ—**मूर्खः** मूर्ख पुत्र **चिरायुः** दीर्घायुवाला **जातः** उत्पन्न होने पर **अपि** भी **तस्मात्** उससे, उसकी अपेक्षा **जातमृतः** पैदा होते ही मर जानेवाला पुत्र **वरः** श्रेष्ठ होता है, क्योंकि **सः** वह **मृतः** मरा हुआ पुत्र **अल्पदुःखाय** थोड़े समय के लिए दुःखदायी होता है **च** और **जडः** मूर्ख **यावत्** जबतक **जीवम्** जीता है, जीवन धारण करता है, तबतक **दहेत्** जलाता है।

भावार्थ—दीर्घायुवाले मूर्ख पुत्र की अपेक्षा उत्पन्न होते ही मर जाने-वाला पुत्र श्रेष्ठ है, क्योंकि मरा हुआ तो थोड़े ही समय के लिए दुःख-दायक होता है, परन्तु मूर्ख जबतक जीता है, तबतक जलाता रहता है।

विमर्श—इसी भाव को किसी कवि ने यूँ व्यक्त किया है—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥

सन्तान का उत्पन्न ही न होना, उत्पन्न होकर मर जाना और मूर्ख होना—इनमें से उत्पन्न ही न होना और उत्पन्न होकर मर जाना—ये दो स्थितियाँ उत्तम हैं, परन्तु सन्तान का मूर्ख होना ठीक नहीं, क्योंकि पैदा न होना और उत्पन्न होकर मर जाना—ये तो एक बार ही दुःख देते हैं किन्तु पुत्र का मूर्ख होना तो पद-पद पर दुःखदायी होता है।

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या
विनाऽग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥८॥

शब्दार्थ—**कुग्रामवासः** बुरे ग्राम में निवास, **कुलहीन-सेवा** नीचकुल की सेवा, **कुभोजनम्** बुरा भोजन **च** और **क्रोधमुखी** क्रोधी स्वभाववाली **भार्या** पत्नी **च** तथा **मूर्खः** मूर्ख **पुत्रः** पुत्र **च** और **विधवा कन्या** विधवा

कन्या—ये षट् छह बिना+अग्निना बिना अग्नि के ही कायम् शरीर को प्रदहन्ति जलाते हैं।

भावार्थ—कुग्राम में निवास, कुलहीन की सेवा, कुभाजन, क्रोध-मुखी पत्नी, मूर्खपुत्र और विधवा कन्या—ये छह बिना अग्नि के ही शरीर को जलाते हैं।

विमर्श--कुग्राम=जिस ग्राम में धनिक, विद्वान्, राजा, नदी और वैद्य आदि न हों, वह कुग्राम कहलाता है।

कुभोजन—ठण्डा, बासी, अधपका, अधजला, रुचिहीन, मिर्च, खटाई, नमक आदि की अधिकता से युक्त, घृणा उत्पन्न करनेवाला—इत्यादि दोषों से युक्त तथा जिसका सेवन करके मन में अप्रसन्नता और पेट में अजीर्ण हो जाए वह कुभोजन कहलाता है।

किसी ने ठीक ही कहा है—

कुभोज्येन दिनं नष्टं कुकलत्रेण शर्वरी।
कुपुत्रेण कुलं नष्टं तन्नष्टं यन्न दीयते॥

कुभोजन से दिन, कुपत्नी से रात और कुपुत्र से कुल नष्ट हो जाता है तथा जो नहीं दिया जाता, वह धन भी नष्ट हो जाता है।

किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्ध्री न च गुर्विणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान्॥६॥

शब्दार्थ—तया उस धेन्वा गाय से किम् क्या क्रियते किया जाए, क्या लाभ, या जो न न दोग्ध्री दूध दे और न नहीं गुर्विणी गर्भ धारण करे, ठीक इसी प्रकार जातेन उत्पन्न हुए पुत्रेण उस पुत्र से कः क्या अर्थः प्रयोजन, लाभ यः जो न न विद्वान् विद्वान् हो और न नहीं भक्तिमान् भक्तिमान हो।

भावार्थ—उस गौ से क्या लाभ जो न तो दूध देती हो और न गर्भ-धारण करती हो? ठीक इसी प्रकार उस पुत्र से क्या लाभ जो न तो विद्वान् हो न ही ईश्वरभक्त हो?

विमर्श—पुत्र गुणी तो होना ही चाहिए—

यस्य पुत्रो न वै विद्वान्न शूरो न च धार्मिकः।
अप्रकाशं कुलं तस्य नष्टचन्द्रेव शर्वरी॥

जिसका पुत्र न विद्वान् हो, न शूरवीर हो और न धार्मिक हो, उसका कुल उसी प्रकार प्रकाश-रहित रहता है, जैसे चन्द्रमा से रहित रात्रि।

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥

दान, तप, शौर्य, विद्या-प्राप्ति और धनलाभ में जिसकी कीर्ति-चन्द्रिका नहीं छिटकी, वह पुत्र नहीं है, अपितु माता का मल है ।

एक हिन्दी-कवि ने ठीक ही कहा है—

जननी जनै तो भक्त जन कै दाता कै शूर ।
नाहीं तो तू बाँझ रह, काहे गँवावै नूर ॥

संसारतापदग्धानां त्रयो विश्रान्तिहेतवः ।
अपत्यं च कलत्रं च सतां संगतिरेव च ॥१०॥

शब्दार्थ—**संसार-तापदग्धानाम्** संसार के [आध्यात्मिक, आधि-भौतिक, आधिदैविक] त्रिविध तापों से तप्त मनुष्यों के लिए **त्रयः** तीन **विश्रान्तिहेतवः** शान्ति के साधन हैं—**अपत्यम्** विद्वान् और धार्मिक पुत्र **कलत्रम्** सतीसाध्वी, पतिव्रता नारी **च** और **सताम्** श्रेष्ठ पुरुषों की **संगतिः** संगति ।

भावार्थ—संसार के त्रिविध तापों से तप्त [जलते] हुए मनुष्यों के लिए शान्ति-प्राप्ति के तीन ही साधन हैं—पुत्र, पत्नी और सज्जनों की संगति ।

विमर्श—वस्तुतः गृहस्थ में ये तीनों ही बातें शान्तिदायक हैं । पुत्र के वचन कितनी शान्ति प्रदान करते हैं—

किं मिष्टं सुतवचनं मिष्टतरं किं तदेव सुतवचनम् ।
मिष्टान्मिष्टतमं किं श्रुतिपरिपक्वं तदेव सुतवचनम् ॥

मीठा क्या है ? पुत्र के वचन । उससे मीठा क्या है ? वही पुत्र के प्रियवचन । मीठे से भी मीठा, सर्वाधिक स्वादिष्ट क्या है ? कानों को जिनके सुनने का अभ्यास हो गया है, पुत्र के वही मीठे वचन ।

नारी के सम्बन्ध में वेद में कहा है—

जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिः । —ऋ० ३।५३।४

हे ऐश्वर्यशालिन् ! स्त्री ही घर है, वही आश्रय=विश्रामस्थल है ।

और भी देखिए—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते ॥

—पञ्चतन्त्र ३।१५२

घर का नाम घर नहीं है अपितु स्त्री का नाम घर है। गृहिणी के बिना घर जंगल से भी अधिक भीषण होता है।

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥

—पञ्चतन्त्र ३।१५१

जिसे पतिव्रता, पति को प्राणरूप माननेवाली अथवा पति की प्रिय और सदा पति के हित में तत्पर रहनेवाली पत्नी प्राप्त हो, वह पुरुष पृथिवी पर धन्य है।

साधुसंगति—सत्सङ्ग भी शान्तिदायक है--

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसंगतिः ॥

संसार में चन्दन शीतल है, चन्दन से भी चन्द्रमा अति शीतल है। परन्तु चन्दन और चन्द्रमा से भी साधुसंगति अधिक शीतल है।

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥११॥

शब्दार्थ—**राजानः** राजा लोग **सकृत्** एक ही बार **जल्पन्ति** आज्ञा देते हैं, **पण्डिताः** पण्डितगण, विद्वान् लोग भी **सकृत्** एक ही बार **जल्पन्ति** बोलते हैं, **कन्याः** कन्याएँ **सकृत्** एक ही बार **प्रदीयन्ते** दी जाती हैं अर्थात् कन्यादान एक ही बार होता है—**एतानि** ये **त्रीणि** तीनों बातें **सकृत्-सकृत्** एक-एक बार ही होती हैं।

भावार्थ—राजा लोग एक ही बार आज्ञा देते हैं, पण्डितगण एक ही बार बोलते हैं अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते हैं और कन्यादान भी एक ही बार किया जाता है—ये तीनों बातें एक-एक बार ही होती हैं, बार-बार नहीं।

विमर्श—इसी भाव से मिलती-जुलती बात किसी हिन्दी-कवि ने भी कही है---

सिंहगमन पौरुषवचन कदली फले इक बार।
तिरया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार ॥

यहाँ पौरुष वचन की समता पण्डितों के एक बार बोलने से है, तिरया तेल की समता कन्यादान से है और हम्मीर-हठ राजाओं की आज्ञा का प्रतीक है।

एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः ।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पञ्चभिर्बहुभी रणः ॥१२॥

शब्दार्थ—**तपः** तप **एकाकिना** अकेले से होता है, **पठनम्** पढ़ना, अध्ययन **द्वाभ्याम्** दो से होता है, **गायनम्** गाना **त्रिभिः** तीन से होता है **गमनम्** यात्रा **चतुर्भिः** चार के द्वारा भली-भाँति होती है **क्षेत्रम्** खेती **पञ्चभिः** पाँच से ठीक प्रकार से होती है और **रणः** युद्ध **बहुभिः** बहुतों से भली-भाँति होता है ।

भावार्थ—अकेले से तप, दो से अध्ययन, तीन से गाना, चार से यात्रा, पाँच से खेती और बहुतों से युद्ध भली-भाँति बनता है ।

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता ।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी ॥१३॥

शब्दार्थ—**सा** वही **भार्या** पत्नी है **या** जो **शुचिः** अन्दर और बाहर से पवित्र है, **दक्षा** जो कर्म करने में कुशल और अत्यन्त चतुर है । **सा भार्या** वही पत्नी श्रेष्ठ है **या पतिव्रता** जो पतिव्रता है । **सा भार्या** वही पत्नी उत्तम है **या पतिप्रीता** जिसपर पति की प्रीति है अथवा जो पति से प्रेम रखती है, **सा भार्या** वस्तुतः वही पत्नी है जो **सत्यवादिनी** सत्य बोलनेवाली है ।

भावार्थ—वस्तुतः वही भार्या=पत्नी है जो पवित्र और चतुर है, जो पतिव्रता है, जो पति से अनुराग रखनेवाली है और जो सत्य बोलती है । ऐसी स्त्री ही मान-सम्मान, पालन और पोषण करने योग्य होती है ।

विमर्श—नारी गुणों से ही गौरव पाती है और सच्ची भार्या= भरण-पोषण करने योग्य बनती है—

पुत्रसूः पाककुशला पवित्रा च पतिव्रता ।
पद्माक्षी पञ्चपैर्नारी भुवि संयाति गौरवम् ॥

पुत्रों=वीरपुत्रों को जन्म देनेवाली, पाक बनाने में कुशल, पवित्र, पतिव्रता और पद्माक्षी=सुन्दरी—इन पाँच 'पकारों' से युक्त नारी संसार में गौरव प्राप्त करती है ।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः ।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥१४॥

शब्दार्थ—**अपुत्रस्य** पुत्ररहित मनुष्य का **गृहम्** घर **शून्यम्** सूना है । **अबान्धवाः** बन्धु-बान्धवों से रहित मनुष्य के लिए **दिशः** दिशाएँ **शून्याः**

शून्य हैं मूर्खस्य मूर्ख मनुष्य का हृदयम् हृदय शून्यम् सूना होता है और दरिद्रता दरिद्र के लिए तो सर्वशून्या घर, दिशा आदि सब-कुछ सूना है।

भावार्थ—पुत्रहीन मनुष्य का घर सूना है, बन्धुओं से हीन मनुष्य के लिए दसों दिशाएँ सूनी हैं, मूर्ख मनुष्य का हृदय सूना होता है और दरिद्र के लिए तो सब-कुछ सूना होता है।

विमर्श—दरिद्र के लिए सभी कुछ सूना होता है—

सर्वकष्टा दरिद्रता। —चाणक्यशतकम

निर्धनता सभी प्रकार के कष्ट देनेवाली है।

दारिद्र्यान्मरणं वरम्। —वैराग्यशतकम्

दरिद्रता की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है।

दारिद्र्यमेकं गुणकोटिनाशी।

एक दरिद्रता सारे गुणों पर पानी फेर देती है।

इतना सब-कुछ होने पर भी दरिद्रता का एक लाभ तो है ही—

हे दारिद्र्य ! नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन॥

हे द्ररिद्रता ! तुझे नमस्कार हो। तेरी कृपा से मैंने सिद्धि प्राप्त कर ली है। क्या सिद्धि है ? मैं सारे संसार के लोगों को देख सकता हूँ परन्तु दरिद्र होने के कारण मुझे कोई नहीं देखता, देख पाता।

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्॥१५॥

शब्दार्थ—**अनभ्यासे** बिना अभ्यास के **शास्त्रम्** शास्त्र **विषम्** विष है, **अजीर्णे** अजीर्ण में, भोजन के ठीक प्रकार से पचे बिना **भोजनम्** भोजन करना **विषम्** विष के तुल्य हानिकारक है, **दरिद्रस्य** दरिद्र के लिए **गोष्ठी** सभा **विषम्** विष के समान है और **वृद्धस्य** वृद्धपुरुष—बूढ़े मनुष्य के लिए **तरुणी** युवती स्त्री **विषम्** विष है।

भावार्थ—बिना अभ्यास के शास्त्र विष है [बिना अभ्यास के उनका अर्थ और सङ्गति नहीं लगाई जा सकती], अजीर्ण में भोजन करना विष के समान है। दरिद्र के लिए सभा विष के समान है [सभा में दरिद्र को कोई नहीं पूछता] और वृद्धपुरुष के लिए युवती स्त्री विष के समान है।

त्यजेद्धर्मं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्।
त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान् बान्धवांस्त्यजेत् ॥१६॥

शब्दार्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह **दयाहीनम्** दयारहित **धर्मम्** धर्म को **त्यजेत्** छोड़ दे **विद्याहीनम्** विद्याहीन **गुरुम्** गुरु को **त्यजेत्** त्याग दे **क्रोधमुखीम्** सदा क्रुद्ध रहनेवाली **भार्याम्** पत्नी को **त्यजेत्** त्याग दे और **निःस्नेहान्** स्नेहरहित **बान्धवान्** बन्धु-बान्धवों को **त्यजेत्** त्याग दे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह दयारहित धर्म को, विद्याहीन गुरु को, क्रोधमुखी पत्नी को और स्नेहरहित बन्धु-बान्धवों को त्याग दे।

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा।
अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥१७॥

शब्दार्थ—**मनुष्याणाम्** मनुष्यों के लिए **अध्वा** अत्यधिक पैदल चलना **जरा** वृद्धावस्था लानेवाला है **वाजिनाम्** घोड़ों के लिए **बन्धनम्** बन्धन, उन्हें बाँधकर रखना **जरा** बुढ़ापा लानेवाला है, **स्त्रीणाम्** स्त्रियों के लिए **अमैथुनम्** असम्भोग, मैथुन न करना **जरा** बुढ़ापे का कारण है और **वस्त्राणाम्** वस्त्रों के लिए **आतपः** धूप **जरा** जरा है, उन्हें शीघ्र जीर्ण-शीर्ण करनेवाली है।

भावार्थ—मनुष्यों के लिए अधिक पैदल चलना, घोड़ों को बाँधकर रखना, स्त्रियों के लिए असम्भोग [मैथुन न करना] और वस्त्रों के लिए धूप जरा [बुढ़ापा] लाने के कारण हैं।

विमर्श—मर्यादा के भीतर पैदल चलना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है परन्तु अधिक मात्रा में और अधिक काल तक पैदल चलने से शरीर में थकावट और वृद्धावस्था के चिह्न उत्पन्न होते हैं।

घोड़ों के लिए बन्धन जरा उत्पन्न करनेवाला है। घोड़ा अड़ा क्यों? पान सड़ा क्यों? रोटी जली क्यों? फेरा न था।

वस्त्रों के लिए धूप जरा है। वस्त्रों को निरन्तर धूप में सुखाने से वे शीघ्र जीर्ण होने लगते हैं और रंगीन हों तो उनका रंग उड़ जाता है।

किसी अन्य विचारक ने वृद्धावस्था के पाँच कारण बताये हैं। उनमें अधिक मार्ग चलना भी एक है—

शीतमध्वा कदन्नं च वयोऽतीताश्च योषितः।
मनसः प्रातिकूल्यं च जरायाः पञ्च हेतवः॥

वृद्धावस्था के पाँच कारण हैं—१. अधिक ठण्ड का लगना २. अध्वा, रास्ता चलना [जो मनुष्य अधिक मार्ग चलता है, वह शीघ्र बूढ़ा हो जाता है] ३. कदन्नम्—बुरे अन्न का सेवन, ४. वृद्धा स्त्री के साथ सहवास और ५. मन की प्रतिकूलता।

मन की अनुकूलता रहने पर चित्त में उल्लास रहता है और इस उल्लास से आयु की वृद्धि होती है परन्तु मन की प्रतिकूलता से मन सदा पस्त रहता है, अतः आयु घटने लगती है, बुढ़ापा आ धमकता है।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययऽऽगमौ।
कश्चाऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥१८॥

शब्दार्थ—**कः** कौन-सा अथवा कैसा **कालः** काल, समय है, **कानि** कौन-कौन **मित्राणि** मेरे मित्र हैं **कः** कौन-सा **देशः** देश, स्थान है **कौ** क्या मेरा **व्यय+आगमौ** व्यय और आय है **च** तथा अहम् मैं **कः** कौन हूँ **च** और **मे** मेरी **शक्तिः** शक्ति का क्या है—**मुहुः मुहुः** बारम्बार **इति** इस प्रकार से **चिन्त्यम्** सोचना-विचारना चाहिए, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए।

भावार्थ—कौन-सा समय है, मेरे मित्र कौन हैं [शत्रु कौन हैं], कौन-सा देश है, मेरी आय और व्यय क्या है? मैं कौन हूँ, मेरी शक्ति क्या है?—इन सब बातों पर बारम्बार चिन्तन और मनन करना चाहिए।

विमर्श—इस श्लोक में आत्मचिन्तन करने का निर्देश है। आत्म-चिन्तन से मनुष्य उन्नति करता है, जीवन में आगे बढ़ता है।

मेरी आय और व्यय क्या है? व्यय आय से कम रहना चाहिए—

जमाने की चक्की उसे देगी पीस।
जिसकी आमद हो उन्नीस और खर्च हो बीस॥

मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं क्या साथ लेकर जाऊँगा—इन बातों पर विचार करना चाहिए।

मेरी शक्ति क्या है?

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्। —ऋ० १०।४८।५

मैं इन्द्र हूँ। इन्द्रियों की शक्ति से युक्त हूँ। मैं अपनी धन्यता को

कभी हार नहीं सकता।

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥१९॥

शब्दार्थ—**जनिता** जन्म देनेवाला पिता **च** तथा **उपनेता** उपनयन= यज्ञोपवीत संस्कार करानेवाला गुरु **यः तु** जो **विद्याम्** विद्या **प्रयच्छति** प्रदान करता है अर्थात् विद्यादाता गुरु **अन्नदाता** अन्न देनेवाला और **भयत्राता** भय से रक्षा करनेवाला—**एते** ये **पञ्च** पाँच **पितरः** पितर **स्मृताः** कहे गये हैं।

भावार्थ—जन्म देनेवाला पिता, उपनयन-संस्कार करानेवाला गुरु, विद्या देनेवाला, अन्नदाता और भय से रक्षा करनेवाला—ये पाँच 'पितर' माने गये हैं।

विमर्श—इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि पितर जीवित होते हैं, मरे हुए नहीं। पितर शब्द 'पा रक्षणे' धातु से बनता है, जिसका अर्थ होता है रक्षा करना। रक्षा जीवित हीं कर सकता है। मरा हुआ तो अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता, दूसरे की रक्षा क्या करेगा ?

जिस समय कौरव-पाण्डवों की सेनाएँ युद्ध के लिए आमने-सामने डट गईं और श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना पर उसके रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया तब—

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥
—गीता १।२२

अर्जुन ने वहाँ खड़े हुए पितॄन्=पितरों=चाचा-ताउओं और पिता-महान्=दादा आदि को देखा।

यदि पितर का अथ मरे हुए बाप-दादा आदि है तो क्या अर्जुन उन मरे हुए पितरों को देखकर भयभीत हो गया था और क्या वे शस्त्रधारी मरे हुए थे ?

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥२०॥

शब्दार्थ—**राजपत्नी** राजा की भार्या **गुरोः** गुरु की **पत्नी** स्त्री **च** और **तथा एव** उसी प्रकार **मित्रपत्नी** मित्र की पत्नी **पत्नीमाता** पत्नी की माता=सास **च** तथा **स्वमाता** अपनी जननी—**एता** ये **पञ्च** पाँच **मातरः** माताएँ **स्मृताः** मानी गई हैं।

भावार्थ—राजा की पत्नी, गुरु की स्त्री, मित्र की पत्नी, पत्नी की माता=सास और अपनी जननी—ये पाँच माताएँ मानी गई हैं। इनके साथ मातृवत् व्यवहार करना चाहिए।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनः ॥२१॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

शब्दार्थ—**द्विजातीनाम्** द्विजाति [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] का **देवः** देव **अग्निः** अग्निहोत्र=यज्ञ है **मुनीनाम्** मुनियों के **हृदि** हृदय में **दैवतम्** देवता निवास करते हैं, **स्वल्पबुद्धीनाम्** अल्पबुद्धियों=मूर्खों के लिए **प्रतिमा** मूर्त्ति में और **समदर्शिनः** समदर्शियों के लिए **सर्वत्र** सभी स्थानों में **देवता** परमेश्वर होता है।

भावार्थ—द्विजों का देव अग्निहोत्र है, मुनियों का देवता उनके हृदय में निवास करता है। मूर्खों के लिए प्रतिमा में देवता होता है और समदर्शी के लिए सब स्थानों में देव=परमेश्वर होता है।

विमर्श—मूर्तिपूजा अधम है—

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
अधमा मूर्तिपूजा च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा ॥[1]

सहज अवस्था उत्तम है, ध्यान-धारणा मध्यम अवस्था है, मूर्तिपूजा अधम है और तीर्थयात्रा अधम-से भी अधम है।

एक और स्थल भी देखिए—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचित्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

—भाग० पुरा० १०।८४।१३

जो वात, पित्त और कफमय शरीर को आत्मा मानता है, जो स्त्री-पुत्र आदि को अपना समझता है, उनमें ममत्वबुद्धि रखता है, जो मूर्ति में पूज्य बुद्धि रखता है, जो जल में तीर्थ बुद्धि रखता है—ऐसा मनुष्य विद्वानों की दृष्टि में गौओं का चारा ढोनेवाला बैल या गधा है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
चौथा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥४॥

---

१. श्री रामचन्द्र डोंगरे द्वारा रचित श्रीमद्भागवत-रहस्य पृष्ठ ९४ से उद्धृत।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः[1] ॥१॥

शब्दार्थ—**द्विजातीनाम्** ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का **गुरुः** गुरु **अग्निः** अग्नि है। **वर्णानाम्** ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का **गुरुः** गुरु **ब्राह्मणः** ब्राह्मण है। **स्त्रीणाम्** स्त्रियों का **गुरुः** गुरु **पतिः** पति **एव** भी है और **अभ्यागतः** अतिथि **सर्वस्य** सबका **गुरुः** गुरु है।

भावार्थ—द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] के लिए अग्नि=अग्निहोत्र गुरु के समान आदरणीय है। चारों वर्णों के लिए ब्राह्मण पूजनीय है। स्त्रियों के लिए पति भी गुरु के समान समादरणीय और सम्माननीय है। अतिथि सभी के लिए पूज्य और सत्कार करने योग्य है।

विमर्श—वेदादि शास्त्रों में गुरुमहिमा गाई गई है—

यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन।
मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्माँ अनु मृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः॥
—ऋ० १।१४७।४

हे ज्ञानस्वरूप प्रभो! जो दूसरों के दानादि सत्कार्यों में विघ्न डालनेवाला, स्वयं दानादि सत्कर्म न करनेवाला, पाप में निरत मनुष्य भीतर कुछ और बाहर कुछ—इस प्रकार दो रूपों से मनुष्यों को ठगता है, मननशील और विचारवान् गुरु उसके अनुग्राहक हों अर्थात् उसे कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग में लाएँ। उस गुरु के कठोर वचनों से शिष्य लोग अपने शरीर और आत्मा को उसके अनुकूल आचरण करके शुद्ध और पवित्र करें।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ —मुण्ड १।२।१२

---

१. यह श्लोक ब्रह्मपुराण ८०।७० मे इसी रूप में उपलब्ध है।

उस अद्वितीय ब्रह्म के विज्ञान के लिए मुमुक्षु [मोक्ष की इच्छा-वाला मनुष्य] हाथ में श्रद्धा की प्रतीक समिधाएँ लेकर वेदादि सकल शास्त्रों के ज्ञाता और शास्त्रों के रहस्यों का युक्तियुक्त तथा सदृष्टान्त प्रवक्ता एवं ब्रह्मनिष्ठ [परब्रह्म परमात्मा में जिसकी पूर्ण निष्ठा हो] सद्गुरु के पास जाए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने योग के गुरुओं के सम्बन्ध में लिखा है—

"मैंने वहाँ [अहमदाबाद के पास दुग्धेश्वर के मन्दिर में] उनसे [ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि से] योगविद्या के गूढ़ तत्त्वों को सीखा। योगशिक्षा के विषय में मैं उन दोनों साधुओं का विशेषरूप से ऋणी हूँ।" —आत्मचरित

अपने विद्यागुरु स्वामी विरजानन्दजी दण्डी के सम्बन्ध में वे प्रायः अपने ग्रन्थों में लिखते हैं—

"श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां श्रीयुतविरजानन्द-सरस्वती-स्वामिनां शिष्येण…।"

गुरु के प्रति कितनी श्रद्धा ओत-प्रोत है इन शब्दों में !

सर्वस्याभ्यागतो गुरुः—अभ्यागत=परिव्राजक यति, संन्यासी सब का स्वतःसिद्ध गुरु है। यहाँ दरिद्र, कङ्गाल, भिखमंगे का नाम गुरु नहीं है। वे बेचारे दयनीय हैं परन्तु अभ्यागत संन्यासी दयनीय नहीं अपितु श्रद्धेय एवं समादरणीय है।

आचारहीन, गुणविहीन, शास्त्र-ज्ञानशून्य मूर्ख का नाम गुरु नहीं है।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा।

—शङ्कराचार्य विरचित प्रश्नोत्तरी ७

गुरु कौन है ? जो हित का=परमात्मतत्त्व का उपदेष्टा हो, जिसने स्वयं आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो।

गुकारस्त्वन्धकारः स्यात् रेफस्तस्य निवर्तकः।
अज्ञाननिवर्तकत्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥

'गु' नाम है अन्धकार का, अज्ञान का और 'रु' कहते हैं हटानेवाले को। जो अज्ञान का नाश करता है, उसे ही गुरु कहते हैं।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।

तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥२॥

शब्दार्थ—यथा जैसे **निघर्षण-च्छेदन-ताप-ताडनैः** घिसने, काटने, तपाने और कूटने—इन **चतुर्भिः** चार प्रकार से **कनकम्** सोने की **परीक्ष्यते** परीक्षा की जाती है **तथा** वैसे ही **त्यागेन** त्याग=दान से, **शीलेन** शील से **गुणेन** गुण से और **कर्मणा** आचरण से **पुरुषः** पुरुष की भी **परीक्ष्यते** परीक्षा की जाती है।

भावार्थ—जैसे सोने के खरे और खोटेपन को जानने के लिए उसकी घिसने, काटने, तपाने और कूटने से परीक्षा की जाती है, वैसे ही मनुष्य की परीक्षा भी दान, शील, गुण और आचरण से होती है।

विमर्श—मनुष्य किसे कहते हैं ? चाणक्यजी के अनुसार मनुष्य वह है जो दानी है, शील से सम्पन्न है, शुभ गुणों से सुभूषित है तथा जिसका आचरण श्रेष्ठ है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुष्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

"मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी-बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हों तथापि उनका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जाएँ परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।" **—सत्या० स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश**

सब दानों में प्राणदान सबसे बढ़कर है, जो धर्म, सत्य और न्याय की वेदी पर अपने प्राणों का बलिदान कर सके वही सच्चा मनुष्य है।

शीलं परं भूषणम्—शील मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है। शील से रहित मनुष्य तो पशु ही है। भर्तृहरि लिखते हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

—नीतिश० १२

जिन मनुष्यों में न विद्या है, न तप है, न दान देने की भावना है, न ज्ञान है, न शील है, न ही जीवन में कोई उत्तम गुण है और न धर्म है, वे पृथिवी पर भाररूप पशु ही हैं, जो मनुष्य के रूप में विचरा करते हैं।

किसी उर्दू कवि ने भी मनुष्य की सुन्दर परिभाषा की है—

दर्देदिले पासे वफा[1] और जज्बये ईमां[2] होना।
है आदमीयत यही और यही इन्सां होना ॥

मनुष्य की परीक्षा होती है कर्म से। वेद में कहा है—

अकर्मा दस्युः। —ऋ० १०।२२।८

कर्म न करनेवाला मनुष्य दस्यु है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि **सुकर्मा आर्यः**—शुभ कर्म करनेवाला, आचरणवान् मनुष्य आर्य है, श्रेष्ठ मनुष्य है।

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥

मनुष्य गुणों से ही उच्चता प्राप्त करता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। क्या राजभवन के शिखर पर बैठने से कौआ हंस बन सकता है? कदापि नहीं।

तावद् भयेषु भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशङ्कया ॥३॥

शब्दार्थ—**भयेषु** भयों से **तावत्** तभी तक **भेतव्यम्** डरना चाहिए **यावत्** जबतक **भयम्** भय **अनागतम्** आया नहीं है। **भयम्** भय को **आगतम्** आया हुआ **दृष्ट्वा तु** देखकर तो **अशङ्कया** निश्शङ्क होकर उसपर **प्रहर्तव्यम्** प्रहार करना चाहिए, उसे दूर करने का उपाय करना चाहिए।

भावार्थ—आपत्तियों और संकटों से तभी तक डरना चाहिए जब

---

१. प्रतिज्ञापालन का विचार, प्रभुभक्ति का विचार, स्वामी अथवा मित्र के लिए तन, मन, धन से निभाना।
२. धर्म पर दृढ़ विश्वास।

तक वे दूर हैं परन्तु जब भय और संकट सिर पर आ पड़े तब शंका-रहित होकर उनपर प्रहार करना चाहिए, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विमर्श—जबतक भय दूर है तबतक उससे डरना उचित है परन्तु जब भय, आपत्ति और संकट सिर पर आ पड़े तब डरने से उनसे मुक्ति=छुटकारा नहीं मिलेगा। जब भय आ गया तब कटिबद्ध होकर उस भय को दूर करने का उपाय करना चाहिए। भय उपस्थित होने पर भयभीत नहीं होना चाहिए अपितु वेद के शब्दों में कहना चाहिए—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ —अथर्व० २।१५।१,३

जैसे द्युलोक और पृथिवीलोक न डरते हैं, न हिंसित होते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण! तू भी भयभीत मत हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं और न हिंसित होते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण! तू भी भयभीत मत हो।

एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरकण्टकाः॥४॥

शब्दार्थ—**एक-उदर-समुद्भूताः** एक गर्भ=माता [पिता] से उत्पन्न हुए तथा **एक-नक्षत्र-जातकाः** एक ही नक्षत्र में जन्मे हुए सब बालक **शीले** गुण-कर्म-स्वभाव में **समाः** समान न **भवन्ति** नहीं होते **यथा** जैसे **बदरकण्टकाः** बेर और उसके काँटे समान नहीं होते अथवा जैसे बेरी से उत्पन्न हुए सब काँटे समान नहीं होते।

भावार्थ—एक ही माता-पिता से और एक ही नक्षत्र में जन्मे हुए सब बालक गुण-कर्म-स्वभाव में समान नहीं होते, जैसे बेर और उसके काँटे समान नहीं होते।

विमर्श—सब समान नहीं होते। वेद में कहा है—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥
—ऋ० १०।११७।९

दोनों हाथ एक समान होते हुए भी एक समान कर्म नहीं कर पाते। एक मातावाली होती हुई भी दो बछड़ियाँ एक समान दूध नहीं देतीं। दो जुड़वाँ भाइयों का सामर्थ्य=बल-शक्ति भी एक जैसा नहीं होता। नातेदार सम्बन्धी होते हुए भी दो मनुष्य एक समान दूसरों को तृप्त नहीं करते अथवा एक समान दान नहीं देते।

एक और वेदमन्त्र में इस असमानता का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है--

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वा ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

—ऋ० १०।७१।७

आँख और कानोंवाले होते हुए सखा=एक साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्य मन के वेगों में एक समान नहीं होते। कोई मुख तक जलवाले [मुख तक गहरे] तालाब के समान, कोई कक्ष=बगल तक गहरे तालाब के समान और कोई डुबकी लगाकर स्नान करने योग्य जलाशयों के सदृश देखे जाते हैं।

वेद ने कितने स्पष्ट शब्दों में और कितने उदाहरण देकर मनुष्यों की विषमता का वर्णन किया है। उपर्युक्त श्लोक वेद के एक अङ्ग का छायानुवाद मात्र है।

निःस्पृहो नाऽधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाऽविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥५॥

शब्दार्थ—**अधिकारी** अधिकारी **निःस्पृहः** आकांक्षा-रहित, निर्लोभ **न स्यात्** नहीं होता अर्थात् अधिकार पाकर निर्लोभ होना कठिन है, **मण्डनप्रियः** शृंगार का प्रेमी **अकामी न** अकाम नहीं होता अर्थात् वह अवश्य ही कामुक होता है **अविदग्धः** चातुर्यहीन मनुष्य, अविद्वान् **प्रियम्** प्रिय और मधुर वचन न नहीं **ब्रूयात्** बोलता, मधुरभाषी नहीं होता और **स्फुटवक्ता** स्पष्ट कहनेवाला **वञ्चकः** न कभी धोखेबाज नहीं होता।

इस श्लोक का अर्थ यूँ भी हो सकता है—

निःस्पृहः आकांक्षारहित, निर्लोभी मनुष्य **अधिकारी न** अधिकारी नहीं होता, अधिकारी बनना नहीं चाहता **अकामी** वासना-शून्य मनुष्य **मण्डनप्रियः** शृंगारप्रिय न नहीं होता **अविदग्धः** मूर्ख मनुष्य **प्रियम्** मीठा

न ब्रूयात् नहीं बोल सकता और **स्फुटवक्ता** स्पष्टवक्ता **वञ्चकः** वञ्चक, ठग **न** नहीं होता।

भावार्थ—१. अधिकारी लोभी होता है, शृंगारप्रेमी कामुक होता है, चातुर्यहीन मधुरभाषी नहीं हो सकता और स्पष्ट कहनेवाला धोखेबाज नहीं होता।

२. आकांक्षाशून्य अधिकारी नहीं बनना चाहता वासना-शून्य मनुष्य शृंगारप्रिय नहीं होता, मूर्ख मनुष्य प्रिय नहीं बोल सकता और स्पष्ट कहनेवाला ठग नहीं होता।

विमर्श—अधिकार पाकर आकांक्षा-शून्य होना कठिन है—

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं।
प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं॥

—रामचरितमानस

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
वाराऽङ्गनाः कुलस्त्रीणां सुभगानां च दुर्भगाः॥६॥

शब्दार्थ—**मूर्खाणाम्** मूर्खों के **द्वेष्याः** शत्रु **पण्डिताः** पण्डित, विद्वान् **अधनानाम्** निर्धनों, दरिद्रों के शत्रु **महाधनाः** धनिक **कुलस्त्रीणाम्** कुलीन स्त्रियों की शत्रु **वाराङ्गनाः** वेश्याएँ **च** तथा **सुभगानाम्** सुहागवाली स्त्रियों की शत्रु **दुर्भगाः** विधवाएँ होती हैं अथवा **दुर्भगाः** कुरूप लोग **सुभगानाम्** सुन्दर पुरुषों के शत्रु होते हैं।

भावार्थ—मूर्ख विद्वानों से द्वेष करते हैं, दरिद्र लोग धनिकों से शत्रुता रखते हैं, वेश्याएँ कुलीन स्त्रियों से द्वेष करती हैं और विधवाएँ सुहागिन नारियों से द्वेष करती हैं।

आलस्योपहता विद्या[1] परहस्तगताः स्त्रियः।
अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम्॥७॥

शब्दार्थ—**विद्या** विद्या **आलस्य-उपहता** आलस्य से नष्ट हो जाती है **परहस्तगताः** दूसरे के हाथ [अधिकार] में गई हुई **स्त्रियः** स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं **अल्पबीजम्** थोड़े बीजवाला, बीज की कमी से **क्षेत्रम्** खेत **हतम्** नष्ट हो जाता है और **अनायकम्** नायकरहित **सैन्यम्** सेना **हतम्** मारी जाती है।

---

१. पाठभेद—**परहस्तगतं धनम्**—अर्थ होगा—दूसरे के हाथ में गया हुआ धन।

भावार्थ—आलस्य से विद्या नष्ट हो जाती है, दूसरे के पास गई हुई स्त्री नष्ट हो जाती है, बीज की कमी से खेत नष्ट हो जाता है और सेनापति से रहित सेना मारी जाती है।

विमर्श—दूसरे के पास गई हुई स्त्री नष्ट हो जाती है—

परहस्तगता नारी लेखनी चैव पुस्तकम्।
न पुनरायान्त्यायान्ति चेद् भ्रष्टा मुष्टा चुम्बिता॥

दूसरे के हाथ में गई हुई स्त्री, लेखनी और पुस्तक वापस नहीं आतीं और यदि आती हैं तो लेखनी भ्रष्टा=टूट-फूटकर, पुस्तक मुष्टा=मुड़ी-तुड़ी और नारी चुम्बिता=दूषित होकर!

नायक के बिना सेना मारी जाती है—

अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः।
स्त्रीनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बालनायकाः॥

सेनापति से रहित सैनिक नष्ट हो जाते हैं, जहाँ बहुत-से नेता होते हैं, वहाँ के नागरिक भी नष्ट हो जाते हैं, जिनकी नेता स्त्री होती है और जहाँ बालक [मूर्ख] नेता होता है, वे भी नष्ट हो जाते हैं।

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते॥८॥

शब्दार्थ—**अभ्यासात्** निरन्तर अभ्यास से **विद्या** विद्या **धार्यते** धारण=प्राप्त की जाती है। **कुलम्** कुल **शीलेन** उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से **धार्यते** धारण=स्थिर होता है। **आर्यः** श्रेष्ठ मनुष्य **तु** तो **गुणेन** गुणों के द्वारा **ज्ञायते** जाना जाता है और **कोपः** क्रोध **नेत्रेण** नेत्रों से **गम्यते** जाना जाता है।

भावार्थ—विद्या की प्राप्ति निरन्तर अभ्यास से होती है। कुल की स्थिरता, कुल का यश और गौरव उत्तम गुण-कर्म और स्वभावों से फैलता है। आर्य की पहचान श्रेष्ठ गुणों से होती है और क्रोध का ज्ञान नेत्रों से हो जाता है।

विमर्श—अभ्यास क्या है?

भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया॥ —चरक

किसी भाव का सतत सेवन अभ्यास है, इसी को शीलन और सततक्रिया भी कहते हैं।

पौनः पुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते।
पुरुषार्थ स एवेह तेनास्ति न विना गतिः॥
—यो० नि० उ० ६७।४२

बार-बार किसी कार्य को करना अभ्यास कहलाता है, उसी का नाम पुरुषार्थ है, उसके बिना गति नहीं।

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥

—योगवासिष्ठ निर्वा० उत्तरा० ६७।२६

अभ्यास का चमत्कार देखो, इससे अज्ञानी ज्ञानी हो जाता है, पर्वत धीरे-धीरे चूर्ण बन जाता है और बाण भी अपने अत्यन्त सूक्ष्म लक्ष्य का वेध कर सकता है।

दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम्।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः॥

—वही ६७।३३

निरन्तर अभ्यास से दुःसाध्य साध्य हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाते हैं और विष अमृत में परिवर्तित हो जाते हैं।

आर्य की पहचान गुणों से होती है। आर्य किसे कहते हैं—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥

—महा० उद्यो० ३३।११७

जो मनुष्य शान्त हुई वैर-अग्नि को पुनः नहीं भड़काता, गर्व=अभिमान नहीं करता, हीनता भी नहीं दिखाता और "मैं विपत्ति में पड़ा हूँ" ऐसा सोचकर अनुचित कार्य [अधर्म] नहीं करता उसे ही श्रेष्ठ लोग आर्यशील=श्रेष्ठ स्वभाववाला कहते हैं।

न स्वसुखे वै कुरुते प्रहर्षं चान्यस्य दुःखे भवति विषादी।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥

—महा० उद्यो० ३३।११३

जो पुरुष अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख में दुःखी हो जाता है और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वही सज्जनों में आर्यपुरुष गिना जाता है।

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृदुना रक्ष्यते भूपः सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम्॥९॥

शब्दार्थ—**वित्तेन** धन से **धर्मः** धर्म की **रक्ष्यते** रक्षा की जाती है **योगेन** यम-नियम आदि योग के द्वारा **विद्या** विद्या की **रक्ष्यते** रक्षा होती है **मृदुना** कोमलता, मधुरता से **भूपः** राजा की **रक्ष्यते** रक्षा होती है और

सत्स्त्रिया सती-साध्वी शीलगुण-सम्पन्न नारी से **गृहम्** घर की **रक्ष्यते** रक्षा होती है।

भावार्थ—धन से धर्म की, योग से विद्या की, कोमलता और मधुरता से राजा की तथा सती स्त्री द्वारा घर की रक्षा होती है।

विमर्श—धन से धर्म की रक्षा होती है। धन के बिना धर्मकार्य भी नहीं हो सकते। चाणक्यजी ने अन्यत्र ठीक ही कहा है—

सुखस्य मूलं धर्मः॥
धर्मस्य मूलमर्थः॥ —चाणक्यसूत्राणि १-२

सुख का मूल [कारण] धर्म है अर्थात् धर्म से सुख की प्राप्ति होती है और धर्म का मूल है अर्थ=धन। धन से धर्म होता है।

वस्तुतः धर्म और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं। धन से धर्मकार्यों का अनुष्ठान होता है और धर्म से धन की प्राप्ति होती है। किसी ने ठीक ही कहा है—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥

धर्म से अर्थ=धन की प्राप्ति होती है, धर्म से ही सुख मिलता है। धर्म से सब-कुछ मिल जाता है। इस संसार में धर्म ही सार है।

महर्षि व्यास ने भी कहा था—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

—महा० स्वर्गा० ५।६२

मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो मिलता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, फिर भी लोग उसका सेवन नहीं करते।

सत्स्त्री से घर की रक्षा होती है—

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च।
भार्या धर्मफलावाप्त्यै भार्या सन्तानहेतवे॥

श्रेष्ठ स्त्री गृहस्थ का मूल है, भार्या ही सुख का कारण होती है, भार्या से ही धर्म के फल की प्राप्ति होती है और भार्या से ही सन्तान की प्राप्ति होती है।

घर की रक्षिका नारियाँ ही होती हैं, अतः महर्षि मनु नारियों को उपदेश देते हैं—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

—मनु० ५।१५०

स्त्री को सदा सुप्रसन्न रहना चाहिए । वह गृहकार्यों में चतुर, कुशल हो । वह घर के बर्तन आदि को स्वच्छ और घर को मार्जन, लेपन आदि द्वारा शुद्ध रखनेवाली हो तथा खर्च करने में बहुत उदार न हो अर्थात् व्यर्थ धन न लुटाए ।

अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रमाचारमन्यथा ।
अन्यथा कुवचः शान्तं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥१०॥

शब्दार्थ--**वेदपाण्डित्यम्** वेद के पाण्डित्य=विद्वत्ता को **अन्यथा** व्यर्थ कहनेवाले, निन्दा करनेवाले **शास्त्रम्-आचारम्** शास्त्र को और श्रेष्ठ आचार को **अन्यथा** व्यर्थ बताकर उनके विषय में विवाद करनेवाले **शान्तम्** शान्त पुरुष को **अन्यथा** व्यर्थ ही **कुवचः** कुवचन कहनेवाले, उसे ढोंगी और पाखण्डी बतानेवाले **लोकाः** मनुष्य **अन्यथा** व्यर्थ **च** ही **क्लिश्यन्ति** क्लेश पाते हैं, दुःख उठाते हैं अर्थात् वे लोग उन वस्तुओं और मनुष्यों का कुछ नहीं बिगाड़ सकते ।

भावार्थ—वेद के पाण्डित्य की निन्दा करनेवाले, शास्त्र और उसके श्रेष्ठाचार को व्यर्थ बतानेवाले शान्तपुरुष को ढोंगी और पाखण्डी कहने वाले व्यर्थ ही दुःख पाते हैं अर्थात् उन वस्तुओं और मनुष्यों की निन्दा करने से उन्हें कोई लाभ नहीं होता ।

दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम् ।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी ॥११॥

शब्दार्थ—**दानम्** दान **दारिद्र्यनाशनम्** दरिद्रता का नाश करनेवाला है **शीलम्** सुशीलता, उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव **दुर्गतिनाशनम्** दुर्गति= बुरी अवस्था, कष्ट, दुर्भाग्य को नष्ट कर देता है **प्रज्ञा** बुद्धि **अज्ञाननाशिनी** अज्ञान का विध्वंस=नाश कर देती है, **भावना** निष्ठा, ईश्वर-भक्ति **भयनाशिनी** भय का नाश करती है ।

भावार्थ—दान से दरिद्रता का नाश होता है, सुशीलता कष्टों को दूर करती है, बुद्धि अज्ञान को नष्ट करती है और ईश्वरभक्ति से भय नष्ट होता है ।

विमर्श—दान से दरिद्रता का नाश होता है। महाभारत में कहा है—

धनं लभते दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥

—महा० अनु० ७।१४

हे प्रजेश्वर! दान से धन मिलता है, मौन से दूसरों से आज्ञा-पालन कराने की शक्ति प्राप्त होती है, तप से नाना प्रकार के उपभोग प्राप्त होते हैं और ब्रह्मचर्य-पालन से दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है।

ईश्वरभक्ति भय का नाश करती है। जो परमात्मा की अमृतमयी गोद में बैठ जाता है, उसे भय कैसा? वेद में कहा ही है—

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः ॥ —यजु० २५।१३

उस परमात्मा का आश्रय लेना, भक्ति करना ही अमृत का हेतु है, उसकी भक्ति न करना, उससे दूर-दूर रहना ही मृत्यु का कारण है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उपासना का फल निम्नरूप में लिखा है—

"[उपासना से] आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह [उपासक] पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा।"

—सत्यार्थ० सप्तम समुल्लास

नाऽस्ति कामसमो व्याधिर्नाऽस्ति मोहसमो रिपुः।
नाऽस्ति कोपसमो वह्निर्नाऽस्ति ज्ञानात् परं सुखम् ॥१२॥

शब्दार्थ—**कामसमः** काम के समान दूसरी कोई **व्याधिः** व्याधि, बीमारी, रोग **न-अस्ति** नहीं है। **मोहसमः** मोह के समान दूसरा कोई **रिपुः** शत्रु, वैरी **न-अस्ति** नहीं है। **कोपसमः** क्रोध के समान अन्य कोई **वह्निः** अग्नि **न-अस्ति** नहीं है और **ज्ञानात् परम्** ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान से बढ़कर और कोई **सुखम्** सुख **न-अस्ति** नहीं है।

भावार्थ—काम के समान कोई रोग, मोह के समान कोई शत्रु और क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है तथा ज्ञान से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं है।

विमर्श—काम के समान व्याधि नहीं है। किसी ने ठीक ही कहा है—

दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥

उल्लू को दिन में नहीं दीखता और कौए को रात्रि में दिखाई नहीं देता परन्तु कामान्ध ऐसा विचित्र जन्तु है, जिसे न दिन में दिखाई देता है और न रात्रि में।

अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥

—मृच्छ० ४।११

प्रेम जिसका ईंधन है और सम्भोग जिसकी ज्वालाएँ हैं, ऐसी यह कामरूपी अग्नि प्रज्वलित हो रही है। इसमें मनुष्य अपने यौवन और धन दोनों की आहुतियाँ दे देते हैं।

मोह के समान शत्रु नहीं है। मोह किसे कहते हैं—

मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम्।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्तितः ॥ —पद्मपुराण

मेरी माता, मेरा पिता मेरी पत्नी, मेरा घर—यह और अन्य सब प्रकार के ममत्व को मोह कहते हैं।

"बुद्धि का नाश ही मोह है। यह मोह धर्म और अर्थ दोनों को नष्ट करता है। इससे मनुष्य में नास्तिकता आती है और वह दुराचार में प्रवृत्त हो जाता है।"

पाप-पुण्य तीखे मृदुल जैसे कण्टक फूल।
अनासक्ति ही पुण्य है मोह पाप का मूल ॥

—श्रीमन्नारायण

क्रोध के समान अग्नि नहीं है। क्रोध वह अग्नि है जो दूसरों को जलाने से पूर्व स्वयं को जला डालती है—

क्रोधो नाशयते धैर्यं क्रोधो नाशयते श्रुतम्।
क्रोधो नाशयते सर्वं नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥

क्रोध धैर्य और शास्त्रज्ञान को नष्ट कर देता है, क्रोध सब कुछ को दग्ध कर देता है, क्रोध के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

आत्मज्ञान से बढ़कर सुख नहीं है—

आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्। —महा० शा० ३२६।१२

आत्मज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है।

वेद में कहा है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः॥

—यजु० ४०।७

जिस अवस्था में आत्मज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि समस्त पदार्थों में परमात्मा ओत-प्रोत है, अन्दर-बाहर व्यापक है तब सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करनेवाले उपासक को कैसा मोह और कैसा शोक अर्थात् वह शोक और मोह से ऊपर उठ जाता है।

चाणक्य के उपर्युक्त श्लोक का तुलसीदासजी द्वारा किया हुआ भावानुवाद भी देखिए—

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

--रामचरित मा० उत्तर०

जन्ममृत्यू हि यात्येको भुनक्त्येकः शुभाऽशुभम्।
नरकेषु पतत्येक एको याति परां गतिम्॥१३॥

शब्दार्थ—मनुष्य **एकः** अकेला **हि** ही **जन्ममृत्यू** जन्म और मृत्यु को **याति** प्राप्त होता है **एकः** अकेला ही **शुभाशुभम्** शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य का फल **भुनक्ति** भोगता है, **एकः** अकेला ही **नरकेषु** नरक=नाना प्रकार के दुःखों, कष्टों में **पतति** गिरता है और **एकः** अकेला ही **पराम् गतिम्** परमगति=मोक्ष को **याति** जाता है, पाता है, प्राप्त करता है।

भावार्थ—मनुष्य अकेला ही आवागमन=जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसता है, अकेला ही पाप-पुण्य का फल भोगता है, अकेला ही नाना प्रकार के कष्टों को भोगता है और अकेला ही मोक्ष पाता है। माता-पिता, भाई-बन्धु, नाते और रिश्तेदार कोई भी उसके दुःख-सुख को बाँट नहीं सकते।

विमर्श—मनुष्य को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। वेद में कहा है—

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥

—अथर्व० १२।३।४८

न्यायकारी परमेश्वर की न्याय-व्यवस्था में कोई त्रुटि नहीं है। कोई आधार भी नहीं है, वहाँ किसी गुरु, पीर, पैगम्बर की सिफारिश भी नहीं चल सकती, मित्रों का पल्ला पकड़कर, उनकी कमाई के सहारे भी मनुष्य कोई पुण्यफल प्राप्त नहीं कर सकता। हमारा कर्मों से भरा हुआ पात्र जैसे का तैसा सुरक्षित रहता है। मनुष्य जैसा पकाता है, वैसा ही खाता है अर्थात् मनुष्य जैसे भले और बुरे कर्म करता है, उन्हीं का फल उसके सामने आता है।

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम्।
जिताऽक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत् ॥१४॥

शब्दार्थ—**ब्रह्मविदः** ब्रह्मज्ञानी के लिए **स्वर्गः** स्वर्ग **तृणम्** तृण=तिनके के समान तुच्छ है। **शूरस्य** शूरवीर के लिए **जीवितम्** जीवन **तृणम्** तृणतुल्य है। **जित+अक्षस्य** जितेन्द्रिय=संयमी के लिए **नारी** स्त्री **तृणम्** तृण के समान है और **निःस्पृहस्य** आकांक्षा=इच्छारहित, निर्लोभ मनुष्य के लिए **जगत्** संसार **तृणम्** तृण के समान हेय है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी के लिए स्वर्ग, शूरवीर के लिए जीवन, जितेन्द्रिय [जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है] के लिए स्त्री और निर्लोभी के लिए संसार तिनके के समान तुच्छ है।

विमर्श—शूरवीर एक क्षण में अपने जीवन का बलिदान कर देता है। सच्चे शूरवीर की तो ऐसी भावना होती है—

बारह बरस लों कूकर जिये सोलह बरस लों स्यार।
बरस अठारह छत्री जिये आगे जीने को धिक्कार ॥

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥१५॥

शब्दार्थ—**प्रवासेषु** विदेशों में **विद्या** विद्या मनुष्य की **मित्रम्** मित्र होती है **च** और **गृहेषु** घरों में **भार्या** सती-साध्वी पत्नी मनुष्य की **मित्रम्** मित्र होती है **व्याधितस्य** रोगी का **मित्रम्** मित्र **औषधम्** औषध होता है **च** और **मृतस्य** मरे हुए का **मित्रम्** मित्र **धर्मः** धर्म होता है।

भावार्थ—विदेशों में विद्या मनुष्य का सच्चा मित्र होती है। घर में शील-गुण-युक्त नारी मनुष्य की वास्तविक मित्र होती है। रोगी के लिए औषध मित्र होता है और मरे हुए मनुष्य का मित्र उसका धर्म [धर्मानुष्ठान] होता है।

विमर्श—प्रवास में विद्या मनुष्य का सच्चा मित्र है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ।।

विद्या कामधेनु के समान गुणों से युक्त है। यह असमय ही फल देनेवाली है। यह प्रवास में माता के समान हितकारिणी और रक्षिका है। विद्या को गुप्त धन माना गया है।

घर में स्त्री मित्र है—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ।।

—महा० आदि० ७४।४१

भार्या पुरुष का आधा अङ्ग है। भार्या पुरुष का सर्वश्रेष्ठ मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा भवसागर से पार उतरने की इच्छावाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है।

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ।।

—महा० आदि० ७४।४३

पत्नी ही एकान्त में प्रियवचन बोलनेवाली मित्र है। धर्मकार्य में पत्नियाँ पिता की भाँति हितैषिणी होती हैं और संकटकाल में माता के समान दुःख दूर करने की चेष्टा करती हैं।

मरे हुए का मित्र धर्म है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि सखा श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

जीवन-भर का संग्रह किया हुआ धन भूमि पर, पालतू पशु गोष्ठ [बाड़े] में रह जाते हैं, पत्नी अधिक-से-अधिक घर के द्वार तक और इष्ट-मित्र श्मशान तक पहुँच जाते हैं। शरीर [जिससे जीवन-भर अत्यन्त प्रेम किया] चिता पर रह जाता है। परलोकमार्ग में केवल मनुष्य का धर्म [शुभ-अशुभ कर्म] ही साथ जाता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।

—मनु० ४।२३९

परलोक में माता-पिता, पुत्र, स्त्री और बन्धु-बान्धव कोई भी सहायता के लिए नहीं रहते हैं, वहाँ तो केवल धर्म ही सहायक होता है।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

—मनु० ४।२४१

बन्धु-बान्धव निर्जीव शरीर को लकड़ी और मिट्टी के ढेले के समान भूमि पर छोड़कर पराङ्मुख होकर चले जाते हैं, एक धर्म ही उसके साथ जाता है।

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं धनाढ्येषु वृथा दीपो दिवाऽपि च॥१६॥

शब्दार्थ—**समुद्रेषु** समुद्रों में **वृष्टिः** वर्षा **वृथा** व्यर्थ है **तृप्तेषु** भोजन से तृप्त हुओं को **भोजनम्** भोजन खिलाना **वृथा** व्यर्थ है, **धनाढ्येषु** धनिकों को **दानम्** दान देना **वृथा** व्यर्थ, निष्फल है **च** और **दिवा** दिन में **दीपः** दीपक जलाना **अपि** भी **वृथा** व्यर्थ है।

भावार्थ—समुद्रों में वर्षा, भोजन से तृप्त हुओं को भोजन कराना, धनिकों को दान देना और दिन में दीपक जलाना—ये सभी कार्य व्यर्थ हैं, निष्फल और निष्प्रयोजन हैं।

विमर्श—धनिकों को दान देना व्यर्थ है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥

—हितोपदेश १।१५

हे युधिष्ठिर! निर्धनों का पालन करो, धनिकों को दान मत दो, क्योंकि रोगी को औषध देना हितकारी होता है, नीरोग को औषधि देने से कोई लाभ नहीं।

नाऽस्ति मेघसमं तोयं नाऽस्ति चात्मसमं बलम्।
नाऽस्ति चक्षुःसमं तेजो नाऽस्ति धान्यसमं प्रियम्॥१७॥

शब्दार्थ—**मेघसमम्** मेघ के जल के समान दूसरा कोई **तोयम्** जल **न+अस्ति** शुद्ध नहीं है, नहीं होता **च** और **आत्मसमम्** आत्मबल के समान [शरीर में अथवा पृथिवी पर दूसरा कोई] **बलम्** बल **न+अस्ति** नहीं है, **चक्षुःसमम्** आँख के समान शरीर में दूसरा कोई **तेजः**

तेज, तेजस्वी इन्द्रिय **न+अस्ति** नहीं है और **धान्यसमम्** अन्न के समान दूसरी कोई वस्तु **प्रियम्** प्रिय **न+अस्ति** नहीं है।

भावार्थ—मेघजल के समान दूसरा कोई जल शुद्ध नहीं होता, आत्मबल के समान दूसरा कोई बल नहीं होता अर्थात् आत्मबल शरीर और इन्द्रियों के बल से बढ़कर है। नेत्र के समान दूसरी कोई ज्योति नहीं है तथा अन्न के समान दूसरा कोई प्रिय पदार्थ नहीं है।

विमर्श—मेघजल के समान अन्य कोई जल नहीं है। मेघ का जल पृथिवी पर होनेवाले वाष्प=भाप से बनता है। वाष्प से बनाये जानेवाले जल को तिर्यक्पातित [Distilled] कहते हैं। मेघ में यह क्रिया मनुष्य-कृत न होकर प्राकृतिक होने से उसमें तिर्यक्पातन न होकर ऊर्ध्वपातन [Sublimation] होता है, अतः मेघजल पृथिवी-जल के दोषों से अलिप्त तथा गुणवत्ता और पवित्रता में बहुत ऊँचा होता है। ऊर्ध्वपातन होने के कारण इसे किसी पात्र में इकट्ठा नहीं किया जा सकता, यह अपात्रस्थ होता है, अतः इसमें पात्र के दोष भी नहीं आते। इन कारणों से मेघजल सर्वश्रेष्ठ होता है।

अधना धनमिच्छन्ति वाचं चैव चतुष्पदाः।
मानवाः स्वर्गमिच्छन्ति मोक्षमिच्छन्ति देवताः ॥१८॥

शब्दार्थ—**अधनाः** धनहीन **धनम्** धन **इच्छन्ति** चाहते हैं, धन की कामना करते हैं **च** और **चतुष्पदाः** चार पैरवाले पशु **वाचम्** वाणी को **एव** ही **इच्छन्ति** चाहते हैं, **मानवाः** मनुष्य **स्वर्गम्** स्वर्ग की **इच्छन्ति** कामना करते हैं और **देवताः** विद्वान् लोग **मोक्षम्** मोक्ष की **इच्छन्ति** चाहना करते हैं।

भावार्थ—निर्धन धन चाहते हैं, पशु वाणी चाहते हैं, मनुष्य स्वर्ग की और देवता मुक्ति की कामना करते हैं।

सत्येन धार्यते पृथिवी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥१९॥

शब्दार्थ—**सत्येन** सत्य से **पृथिवी** पृथिवी **धार्यते** स्थिर है, **रविः** सूर्य **सत्येन** सत्य के बल से **तपते** तपता है, **सत्येन** सत्य से **वायुः** वायु **वाति** बहता है, चलता है और **सर्वम्** सब-कुछ **सत्ये** सत्य में ही **प्रतिष्ठितम्** स्थिर है।

भावार्थ--सत्य के आधार पर पृथिवी टिकी हुई है, सूर्य सत्य के

प्रताप से ही तपता है, सत्य के बल से ही वायु चलता है और सब-कुछ सत्य में स्थिर है।

विमर्श--पृथिवी सत्य के आधार पर टिकी हुई है। वेद में कहा है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः। —ऋ० १०।८५।१

भूमि सत्य के आधार पर ठहरी हुई है।

अन्यत्र वेद में पृथिवी के धारक आठ स्तम्भ बताये हैं, सत्य भी उन स्तम्भों में एक है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

—अथर्व० १२।१।१

सत्य, विशालता, नियम=व्यवस्था, उग्रता=तेजस्विता, दीक्षा, तप, ब्रह्म=ज्ञान, यज्ञ=परोपकार, कला-कौशल, उद्योगधन्धे—ये आठ पृथिवी को धारण करनेवाले स्तम्भ हैं।

एक श्लोक भी देखिए--

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिर्सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशूरैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

—स्कन्द० मा० कु० २।७१

गौ, ब्राह्मण, वेद, सती-साध्वी नारी, सत्यवादी, निर्लोभी, दानशील और शूरवीर--इन सात पर पृथिवी टिकी हुई है।

यहाँ सत्यवादियों को पृथिवी का धारक माना गया है।

सत्य की महिमा महान् है—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

—वा० रा० अयो० १०९।१३

संसार में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्य के आधार पर ही धर्म स्थिर है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्य से बढ़कर दूसरा कोई परम-पद नहीं है।

सत्य का अर्थ परमेश्वर भी है। यदि परमेश्वर अर्थ लिया जाए तो चाणक्यजी के उपर्युक्त श्लोक का अर्थ होगा—

परमेश्वर ने पृथिवी को धारण किया हुआ है, उसी के प्रताप से सूर्य चमकता है, उसी के भय से वायु प्रवाहित होती है और सब कुछ परमेश्वर में ही स्थित है।

उपनिषदों में भी कहा है—

भयादस्याग्निस्तपति भयाच्च तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

—कठ० ६।३

परमेश्वर के भय [शासन, नियम, व्यवस्था] से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी के भय से सूर्य चमकता है, विद्युत् और वायु भी उसी के नियम में चलते हैं। मृत्यु भी उसी के शासन से भागता फिरता है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवित-यौवनम् ।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः ।।२०।।

शब्दार्थ—**लक्ष्मीः** लक्ष्मी, धन-सम्पत्ति **चलाः** चलायमान् है, नाशवान् है। **प्राणाः** प्राण भी **चलाः** नाशवान् हैं **जीवित-यौवनम्** जीवन और यौवन भी **चलम्** चलायमान् हैं **चलाचले च** चल और अचल, चेतन और जड़ **संसारे** संसार में **एकः** एक **धर्मः** धर्म **हि** ही **निश्चलः** निश्चल है।

भावार्थ—इस चराचर जगत् में लक्ष्मी, प्राण, यौवन और जीवन सभी कुछ नाशवान् है, केवल एक धर्म ही निश्चल है।

विमर्श—धन चलायमान है। वेद में कहा है—

अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।।

—ऋ० १०।११७।५

धन रथ के चक्र की भाँति एक-दूसरे के पास आते-जाते रहते हैं।

यौवनं जीवनं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ।।

—शुक्रनीति १।१३८

यौवन, जीवन, चित्त, छाया, लक्ष्मी और प्रभुत्व—ये छह चञ्चल होते हैं, ऐसा जानकर मनुष्य को धर्म में रत होना चाहिए।

नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां चैव वायसः ।
चतुष्पदां शृगालस्तु स्त्रीणां धूर्ता च मालिनी ।।२१।।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

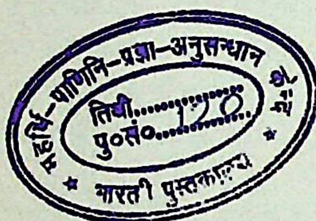
शब्दार्थ—**नराणाम्** मनुष्यों में **नापितः** नाई **धूर्तः** चालाक, होशियार होता है **च** और **पक्षिणाम्** पक्षियों में **वायसः** कौआ **एव** ही सबसे अधिक चालाक होता है, **चतुष्पदाम्** चार पैरवाले प्राणियों में **तु** तो **शृगालः** सियार, गीदड़ चालाक होता है **च** और **स्त्रीणाम्**

स्त्रियों में मालिनी मालिन धूर्ता सबसे अधिक चतुर होती है।

भावार्थ—मनुष्यों में नाई, पक्षियों में कौआ, चौपायों में सियार और स्त्रियों में मालिन चालाक होते हैं।

विमर्श—हमारे विचार में यह श्लोक किसी धूर्त द्वारा प्रक्षिप्त किया गया है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
पांचवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥५॥



अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम् ।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥१॥

शब्दार्थ—मनुष्य **श्रुत्वा** वेदादि शास्त्रों को सुनकर **धर्मम्** धर्म के तत्त्व और रहस्यों को **विजानाति** जानता है, **श्रुत्वा** शास्त्र और विद्वानों के प्रवचन सुनकर **दुर्मतिम्** कुमति, दुर्बुद्धि, खोटी बुद्धि को **त्यजति** त्याग देता है, **श्रुत्वा** शास्त्र सुनकर **ज्ञानम्** ज्ञान-विज्ञान को **अवाप्नोति** प्राप्त करता है और **श्रुत्वा** सुनकर ही **मोक्षम्** मोक्ष को **अवाप्नुयात्** प्राप्त करता है।

भावार्थ—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के श्रवण से धर्म के मर्म को जानता है, सुनकर खोटी बुद्धि को छोड़ देता है, सुनकर ज्ञान प्राप्त करता है और शास्त्र तथा गुरु-वाक्यों को सुनकर संसार के बन्धनों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है।

विमर्श—पढ़कर मनुष्य विद्वान् बनता है और सुन-सुनकर 'बहुश्रुत' बन जाता है, अतः शास्त्रों का श्रवण करना चाहिए। परमात्मा ने कान दो दिये हैं और मुख एक, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सुने अधिक और बोले कम।

पक्षिणां काकश्चाण्डालः पशूनां चैव कुक्कुरः ।
मुनीनां कोपी चाण्डालः सर्वेषां चैव निन्दकः ॥२॥

शब्दार्थ—**पक्षिणाम्** पक्षियों में **काकः** कौआ **चाण्डालः** चाण्डाल होता है **च** और **पशूनाम्** पशुओं में **कुक्कुरः** कुत्ता **एव** ही चाण्डाल कहा गया है, **मुनीनाम्** मुनियों में **कोपी** क्रोध करनेवाला **चाण्डालः** चाण्डाल होता है **च** तथा **सर्वेषाम्** सबका **निन्दकः** निन्दक, निन्दा करनेवाला **एव** भी चाण्डाल होता है।

भावार्थ—पक्षियों में कौआ, पशुओं में कुत्ता, मुनियों में क्रोधी

चाण्डाल होता है और सबकी निन्दा करनेवाला मनुष्यों में चाण्डाल होता है।

विमर्श—निन्दा किसे कहते हैं ? '**गुणेषु दोषारोपणं दोषेषु गुणारोपणं निन्दा**।' गुणों में दोष-आरोपण और दोषों में गुण-आरोपण करना निन्दा है।

कौआ सबकुछ खा लेता है, अतः चाण्डाल है। कुत्ता स्वयं वमन=उल्टी करके चाट लेता है, अतः चाण्डाल है, क्रोध तो है ही चाण्डाल। दूसरों की निन्दा करनेवाला मनुष्य भी चाण्डाल है, क्योंकि वह गुणी व्यक्ति में भी दोष ही देखता है।

भस्मना शुध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुध्यति।
रजसा शुध्यते नारी नदी वेगेन शुध्यति ॥३॥

शब्दार्थ—**कांस्यम्** काँसे का पात्र **भस्मना** राख से माँजने से **शुध्यति** शुद्ध होता है, **ताम्रम्** ताँबे का पात्र **अम्लेन** इमली अथवा खटाई से रगड़ने से **शुध्यति** निखरता है, चमक जाता है। **नारी** स्त्री **रजसा** रजस्वला होने से **शुध्यते** पवित्र होती है और **नदी** नदी **वेगेन** तीव्र गति से बहने से अथवा बाढ़ आने से **शुध्यति** निर्मल होती है।

भावार्थ—काँसे का पात्र राख से माँजने से, तांबे का पात्र खटाई से रगड़ने से शुद्ध होता है। स्त्री रजस्वला होने से पवित्र होती है और नदी तीव्र गति से बहने से निर्मल हो जाती है।

विमर्श—दुष्टों के द्वारा दूषित नारी रजस्वला होने के पश्चात् शुद्ध हो जाती है। किसी कारण से कोई स्त्री पतित हो गई हो, गुण्डों ने उससे बलात्कार किया हो, तो भी उसे अपना लेना चाहिए।

थूक, खखार एवं मल-मूत्र आदि से दूषित नदी प्रवाह अर्थात् तीव्र धारा से अथवा बाढ़ आने से पवित्र हो जाती है।

भ्रमन् सम्पूज्यते राजा भ्रमन् सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन् सम्पूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ॥४॥

शब्दार्थ—**भ्रमन्** भ्रमण करनेवाला **राजा** राजा **सम्पूज्यते** अपनी प्रजा में आदर पाता है **भ्रमन्** भ्रमण करनेवाला **द्विजः** विद्वान्, ब्राह्मण **सम्पूज्यते** देश-विदेश में सर्वत्र आदर-सम्मान पाता है, **भ्रमन्** भ्रमणशील **योगी** योगी **सम्पूज्यते** पूजित, सत्कृत होता है—ये सब भ्रमण से मान-सम्मान पाते हैं परन्तु **भ्रमन्ती** भ्रमण करनेवाली, इधर-उधर

घूमनेवाली स्त्री नारी **विनश्यति** भ्रष्ट हो जाती है।

भावार्थ—भ्रमण करनेवाला राजा, ब्राह्मण और योगी सर्वत्र आदर पाता है परन्तु भ्रमण करनेवाली नारी भ्रष्ट हो जाती है।

विमर्श—महर्षि मनु ने नारी के छह दोष माने हैं, उनमें भ्रमण भी एक है। अवलोकन कीजिए—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

—मनु ९।१३

मद्यादि मादक द्रव्यों का सेवन, दुष्ट पुरुषों का सङ्ग, पति से वियोग होना, धूर्त और पाखण्डियों के दर्शन के बहाने से इधर-उधर फिरना तथा दूसरे के घर में जाकर सोना और निवास करना—ये छह स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं।

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥५॥

शब्दार्थ—**यादृशी** जैसी **भवितव्यता** होनहार होती है **बुद्धिः** बुद्धि भी **तादृशी** वैसी ही **जायते** हो जाती है, **व्यवसायः** व्यवसाय, उपाय **अपि** भी **तादृशः** वैसा **एव** ही हो जाता है तथा **सहायाः** सहायक भी **तादृशः** वैसे **एव** ही मिल जाते हैं।

भावार्थ—जैसी होनहार होती है, मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है, उसे वैसे ही उपाय=साधन और सहायक भी मिल जाते हैं।

विमर्श—मनुष्य वर्तमान जन्म में पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का फल भोगता है। भाग्य क्या है—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।

पूर्वजन्मकृत कर्मों के फल को ही भाग्य कहते हैं।

होनहार की बलवत्ता तो देखिए, श्रीराम जैसा बुद्धिमान् व्यक्ति स्वर्णमृग के पीछे दौड़ गया—

असम्भवं हेममृगस्य जन्म
तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति॥

—महानाटक ४।५

स्वर्ण-मृग का जन्म असम्भव है, फिर भी श्रीराम स्वर्ण-मृग में लुब्ध हो गये, अतः निश्चय होता है कि विपत्ति आने [होनी] के समय मनुष्यों की बुद्धि मलिन=विचारशून्य हो जाती है।

लक्ष्मणजी ने चेतावनी भी दी थी कि मुझे तो यह मारीच प्रतीत होता है, फिर भी श्रीराम उस स्वर्ण-मृग के पीछे चल दिये, इसे होनी के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥६॥

शब्दार्थ—**कालः** काल, समय **भूतानि** सब प्राणियों को **पचति** पकाता है, जीर्ण करता है, खा जाता है, **कालः** काल ही **प्रजाः** सब प्रजाओं का **संहरते** नाश करता है **सुप्तेषु** सोये हुओं में अर्थात् सब पदार्थों के क्षय हो जाने पर भी **कालः** काल ही **जागर्ति** जागता रहता है **हि** निश्चय ही **कालः** काल **दुरतिक्रमः** टाला नहीं जा सकता, काल का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

भावार्थ—काल सब प्राणियों को खा जाता है, काल ही सबका संहार=नाश करता है, सबके सो जाने पर भी काल जागता रहता है, सचमुच काल बड़ा बलवान् है, काल को कोई लाँघ नहीं सकता।

विमर्श—वेद में काल के सम्बन्ध में कहा है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

—अथर्व० १६।५३।१

कालरूपी घोड़ा विश्वरूपी रथ को खींच रहा है। सात दिन अथवा सात ऋतुएँ ही इस घोड़े की सात रश्मियाँ=रस्सियाँ लगामें हैं। यह असंख्य प्राणियों का क्षय करनेवाला है। यह कभी जीर्ण नहीं होता और अत्यन्त बलशाली है। क्रान्तदर्शी, मेधावी लोग ही उस घोड़े पर चढ़ पाते हैं अर्थात् उसका समुचित प्रयोग कर लाभ उठाते हैं। सारे भुवन=लोक-लोकान्तर उसके चक्र हैं अर्थात् उसके द्वारा सभी लोक-लोकान्तर चक्रवत् घूम रहे हैं।

महाभारत में यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था—**'का वार्ता'**—क्या समाचार है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥

—महा० वन० ३१३।११८

इस महामोहरूपी कड़ाहे [संसार] में काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतुरूपी कड़छी से उलट-पुलटकर सूर्यरूपी अग्नि और रात-दिनरूपी ईंधन के द्वारा पका रहा है, यही वार्ता है।

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो ह्यर्थी दोषान् न पश्यति ॥७॥

शब्दार्थ—**जन्मान्धः** जन्म का अन्धा **न** नहीं **पश्यति** देख पाता **च** और **कामान्धः** कामान्ध **एव** भी **न** कुछ नहीं **पश्यति** देख पाता **मदोन्मत्तः** शराब आदि के कारण उन्मत्त=पागल भी **न** नहीं **पश्यति** देखता **हि** तथा **अर्थी** स्वार्थी मनुष्य **दोषान्** किसी काम के दोषों को **न** नहीं **पश्यति** देखता।

भावार्थ—जन्म के अन्धे को दिखाई नहीं देता, कामान्ध को भी कुछ नहीं दीखता, शराब आदि के कारण उन्मत्त को भी कुछ नहीं सूझता और स्वार्थी अपने काम को सिद्ध करने की धुन में किसी काम में दोष नहीं देखता।

विमर्श—कामान्ध को दिखाई नहीं देता। किसी ने ठीक ही कहा है—

दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥

उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता, कौए को रात में नहीं दीखता परन्तु कामान्ध विचित्र प्राणी है, इसे न रात में दिखाई देता है और न दिन में!

भर्तृहरि ने काम की प्रबलता का क्या सुन्दर चित्र खींचा है—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥

—भर्तृ० शृंगार० ६३

भोजन न मिलने के कारण दुर्बल, काना, लंगड़ा, कटे कानवाला, बिना पूँछवाला घायल अतएव पीब से भरा हुआ और सहस्रों कृमियों से व्याप्त शरीरवाला, भूख का मारा हुआ बुढ़ापे के कारण शिथिल, मिट्टी के घड़े का मुँह जिसके गले में फँसा हुआ है—ऐसा कुत्ता भी मैथुनार्थ कुतिया के पीछे-पीछे दौड़ता है। अहो! कामदेव सब प्रकार से नष्ट उस कुत्ते को और भी मार रहा है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥८॥

शब्दार्थ—आत्मा जीव **स्वयम्** स्वयं **कर्म** कर्म **करोति** करता है **स्वयम्** स्वयं ही **तत् फलम्** उसके शुभ और अशुभ फल को **अश्नुते** भोगता है। **स्वयम्** वह स्वयं **संसारे** संसार में, संसार में विभिन्न योनियों में **भ्रमति** भ्रमण करता है, चक्कर काटता है और **स्वयम्** स्वयं ही पुरुषार्थ करके **तस्माद्** उससे, उस संसार-चक्र, संसार-बन्धन, आवागमन के चक्र से **विमुच्यते** छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—जीव स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही उन कर्मों का फल सुख-दुःख भोगता है। जीव स्वयं संसार में विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और स्वयं पुरुषार्थ करके संसार-बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है।

विमर्श—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। कर्म कर चुकने पर उसे परमात्मा की व्यवस्था से शुभाशुभ, पुण्य-पाप फल भोगना पड़ता है। चाहे कोई गङ्गा में डुबकी लगाये या यमुना में स्नान करे अथवा समुद्र में डूब जाए बिना भोगे हुए फल से छुटकारा नहीं मिल सकता—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति० ३७।१६

मनुष्य शुभ और अशुभ जैसे भी कर्म करता है उसका फल भोगना ही पड़ता है। करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी बिना कर्मफल को भोगे हुए मनुष्य को छुटकारा नहीं मिल सकता।

जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वयं संसार में भिन्न-भिन्न योनियों में चक्कर काटता है। वेद में कहा है—

एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते।
अभि द्रोणान्यासदम् ॥ —साम० १२५६

यह आत्मा नाना-विध क्रीड़ाओं को करनेवाला है। यह अविनाशी है। यह पंखों से उड़नेवाले पक्षी की भाँति गति करता है, उड़ता है। यह एक शरीर को छोड़कर भिन्न-भिन्न शरीर-कलशों=योनियों में जा बैठता है।

मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही संसार-बन्धनों को काटकर मुक्त हो जाता है।

राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः।
भर्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा॥६॥

शब्दार्थ—**राष्ट्रकृतम्** राष्ट्र में किये हुए **पापम्** पापों को **राजा** राजा तथा **राज्ञः** राजा के **पापम्** पापों को **पुरोहितः** पुरोहित भोगता है, **च** और **स्त्रीकृतम्** स्त्री के द्वारा किये हुए **पापम्** पापों को **भर्ता** पति **तथा** और **शिष्यपापम्** शिष्य के द्वारा किये हुए पाप को **गुरुः** गुरु भोगता है।

भावार्थ—राष्ट्र में किये हुए पापों को राजा, राजा के पापों को पुरोहित, पत्नी के पापों को पति और शिष्य के पापों को गुरु भोगता है।

विमर्श—यह श्लोक आठवें श्लोक से विरुद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त है। आठवें श्लोक में स्पष्ट कहा है—"जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है।" तब यहाँ राष्ट्र में किये पापों का राजा द्वारा, राजा के पापों का पुरोहित द्वारा, पत्नी के पापों का पति द्वारा और शिष्य के पापों का गुरु द्वारा भोगने का निर्देश अनुचित है। मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है, दूसरे के कर्मों का नहीं। वेद में प्रार्थना है—

मा व एनो अन्यकृतं भुजेम। —ऋ० ६।५१।७

हे विद्वानो ! हम औरों के द्वारा किये हुए पाप, अपराध के फल के भागी न बनें।

ऋणकर्ता पिता शत्रुः माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥१०॥

शब्दार्थ—**ऋणकर्ता** ऋण लेनेवाला **पिता** पिता **शत्रुः** शत्रु होता है **च** और **व्यभिचारिणी** व्यभिचार करनेवाली **माता** माता शत्रु होती है **रूपवती** सुन्दरी **भार्या** पत्नी **शत्रुः** शत्रु होती है तथा **अपण्डितः** मूर्ख

पुत्रः पुत्र भी **शत्रुः** शत्रु होता है।

भावार्थ—ऋण लेनेवाला पिता, व्यभिचारिणी माता, रूपवती स्त्री और मूर्ख पुत्र—ये सब शत्रु के समान होते हैं।

विमर्श—'जो कष्ट देनेवाला हो' वही शत्रु कहलाता है। ऋण लेनेवाला पिता ऋण लेकर कष्ट दे तो वह शत्रु ही है। ऋण लेना बहुत सरल है परन्तु उसे चुकाना अत्यन्त कठिन है, अतः ऋण लेनेवाला पिता शत्रु है।

व्यभिचारिणी माता की सन्तानें भी दुराचारी ही होंगी। माता के व्यभिचारिणी होने से कुल की सारी मर्यादाएँ और पवित्रता भी नष्ट हो जाएगी, अतः व्यभिचारिणी माता भी शत्रु के समान है।

कुरूप पति को न चाहनेवाली रूपवती स्त्री भी शत्रु है। रूपवती स्त्री को सभी कुदृष्टि से देखते हैं—

अच्छी सूरत भी क्या शै है।
जिसने नजर डाली बुरी डाली॥

इसलिए भी वह शत्रु के समान है।

रूपवती पत्नी का गुणवती होना आवश्यक नहीं है, यदि वह कर्कशा हुई तब तो उसके शत्रु होने में सन्देह ही क्या है? अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन अन्धे थे और उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी परन्तु अत्यन्त रूखे और तीखे स्वभाववाली। मित्र कहते—"आपकी पत्नी गुलाब के समान सुन्दर है।" मिल्टन एक आह भरकर कहते—"मैं गुलाब के सौन्दर्य को तो नहीं देख पाता परन्तु उसके काँटों का अनुभव प्रतिदिन करता हूँ।"

मूर्ख पुत्र भी शत्रु है, वह अपने कुल को उज्ज्वल करने के स्थान पर कुल को कलंक ही लगाता है।

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दोऽनुवृत्तेन यथार्थत्वेन पण्डितम्॥११॥

शब्दार्थ—**लुब्धम्** धन-लोलुप, लोभी मनुष्य को **अर्थेन** धन के द्वारा **गृह्णीयात्** वश में करना चाहिए, **स्तब्धम्** अहंकारी, अभिमानी को **अञ्जलिकर्मणा** हाथ जोड़कर वश में करना चाहिए, **मूर्खम्** मूर्ख को **छन्दः अनुवृत्तेन** उसकी इच्छा के अनुकूल कार्य करने से **च** और **पण्डितम्** बुद्धिमान् मनुष्य को **यथार्थत्वेन** सच-सच बात बताकर वश में करना चाहिए।

भावार्थ—लोभी को धन से, अभिमानी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करके और विद्वान् को सत्य बात बताकर वश में करना चाहिए।

वरं न राज्यं न कुराजराज्यं
वरं न मित्रं न कुमित्रमित्रम्।
वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यो
वरं न दारा न कुदारदाराः ॥१२॥

शब्दार्थ—**राज्यम्** राज्य का न न होना **वरम्** श्रेष्ठ है परन्तु **कुराजराज्यम्** दुष्ट राजा का राज्य होना न अच्छा नहीं है, **मित्रम्** मित्र का न न होना **वरम्** उत्तम है किन्तु **कुमित्रमित्रम्** खोटे, धोखेबाज मित्र का मित्र होना न उत्तम नहीं है, **शिष्यः** शिष्य का न होना **वरम्** अच्छा है लेकिन **कुशिष्यशिष्यः** बुरे शिष्य को शिष्य बनाना न अच्छा नहीं है, **दाराः** पत्नी का न न होना **वरम्** श्रेष्ठ है परन्तु **कुदारदाराः** दुष्ट स्त्री को पत्नी बनाना न उत्तम नहीं है।

भावार्थ—दुष्ट राजा के राज्य की अपेक्षा राज्य का न होना उत्तम है, इसी प्रकार धोखेबाज मित्र बनाने की अपेक्षा मित्र का न होना उत्तम है, कुशिष्य को शिष्य बनाने की अपेक्षा शिष्य का न होना श्रेष्ठ है और दुष्ट स्त्री को पत्नी बनाने की अपेक्षा पत्नी का न होना अच्छा है।

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं
कुमित्रमित्रेण कुतोऽस्ति निर्वृत्तिः।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः
कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥१३॥

शब्दार्थ—**कुराजराज्येन** दुष्ट राजा के राज्य से अथवा राज्य में **प्रजासुखम्** प्रजा को सुख **कुतः** कहाँ? **कुमित्रमित्रेण** धोखेबाज मित्र की मित्रता से/में **निर्वृत्तिः** आनन्द **कुतः अस्ति** कहाँ है **च** और **कुदारदारैः** दुष्ट स्त्री को भार्या बनाने से **गृहे** घर में **रतिः** प्रीति **कुतः** कहाँ? **कुशिष्यम्** खोटे शिष्य को **अध्यापयतः** पढ़ानेवाले का **यशः** यश **कुतः** कैसे होगा?

भावार्थ—दुष्ट राजा के राज्य में प्रजा को सुख मिलना असम्भव है।

धोखेबाज मित्र की मित्रता से आनन्द, दुष्ट स्त्री को पत्नी बनाने से घर में प्रीति और खोटे शिष्य को पढ़ाने वाले को यश की प्राप्ति होना असम्भव है।

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात् ॥१४॥

शब्दार्थ—मनुष्य को **सिंहात्** सिंह, शेर से **एकम्** एक गुण **बकात्** बगुले से **एकम्** एक गुण तथा **कुक्कुटात्** कुक्कुट, मुर्गे से **चत्वारि** चार गुण **शिक्षेत्** सीखने चाहिएँ, **वायसात्** कौए से **पञ्च** पाँच गुण **शुनः** कुत्ते से **षट्** छह गुण **च** और **गर्दभात्** गधे से **त्रीणि** तीन गुण **शिक्षेत्** सीखने, ग्रहण करने चाहिएँ।

भावार्थ—मनुष्य को सिंह और बगुले से एक-एक, मुर्गे से चार कौए से पाँच, कुत्ते से छह और गधे से तीन गुण सीखने चाहिएँ।

प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते ॥१५॥

शब्दार्थ—**नरः** मनुष्य **यत्** जो भी **प्रभूतम्** बड़ा **वा** अथवा **अल्पम्** छोटा **कार्यम्** कार्य **कर्तुम्-इच्छति** करना चाहता है **तत् कार्यम्** उस कार्य को **सर्वारम्भेण** पूर्ण शक्ति लगाकर, सब प्रकार के प्रयत्नों से करे—इसे **सिंहात्** सिंह से **एकम्** एक शिक्षा ग्रहण करना, सीखना **प्रचक्षते** कहते हैं।

भावार्थ—मनुष्य जो भी बड़ा या छोटा कार्य करना चाहे, उसे पूर्ण शक्ति लगाकर करे, यह शिक्षा सिंह से लेनी चाहिए।

विमर्श—सिंह अपने शिकार के लिए पूर्ण शक्ति लगा देता है, वह गोली के भी सम्मुख चलता है। ऐसे ही मनुष्य जो भी कार्य करे, उसमें अपनी पूर्ण शक्ति लगा दे, तभी सफलता प्राप्त होगी।

इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ॥१६॥

शब्दार्थ—**पण्डितः** बुद्धिमान् **नरः** मनुष्य **बकवत्** बगुले की भाँति एकाग्रचित्त होकर **च** तथा **इन्द्रियाणि** इन्द्रियों को **संयम्य** वश में करके **देश-काल-बलम्** देश, काल और अपने बल को **ज्ञात्वा** जानकर **सर्व-कार्याणि** सारे कार्यों को **साधयेत्** सिद्ध करे।

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों को वश में और चित्त को एकाग्र करके तथा देश, काल और अपने बल को

जानकर बगुले के समान अपने सारे कार्यों को सिद्ध करे।

विमर्श—बगुले का ध्यान प्रसिद्ध है। किंवदन्ती है कि श्रीराम ने ध्यानमग्न एक बगुले को देखकर लक्ष्मणजी से कहा—

पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परमधार्मिकः।
मन्दं मन्दं पदं धत्ते जीवानां वधशंकया॥

हे लक्ष्मण! पम्पा-सरोवर पर इस परमधार्मिक बगुले को देखो; जीवों की हिंसा न हो, अतः कैसे धीरे-धीरे अपने पैरों को रख रहा है!

लक्ष्मणजी कुछ उत्तर देते, उससे पूर्व एक मछली बोल उठी—

अहो बकः प्रशंसते राम येनाहं निष्कुली कृता।
सहवासी विजानीयात् चरित्रं सहवासिनाम्॥

अहो! हे राम! आप बगुले की प्रशंसा कर रहे हैं जिसने मुझे कुलहीन बना डाला। सहवासियों के चरित्र को तो सहवासी ही जान सकता है।

प्रत्युत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।
स्वयमाक्रम्य भुक्तं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्॥१७॥

शब्दार्थ—**प्रत्युत्थानम्** यथासमय **च** और उचित समय जागना **च** तथा **युद्धम्** युद्ध के लिए सदा उद्यत रहना **च** और **बन्धुषु** बन्धुओं में/को **संविभागम्** उचित विभाग [हिस्सा] देना **च** तथा **स्वयम्** स्वयं **आक्रम्य** आक्रमण करके, छीनकर **भुक्तम्** भोजन करना—इन **चत्वारि** चार बातों को **कुक्कुटात्** मुर्गे से **शिक्षेत्** सीखना चाहिए।

भावार्थ—यथासमय जागना, युद्ध के लिए उद्यत रहना, बन्धुओं को उनका हिस्सा देना और आक्रमण करके भोजन करना—इन चार बातों को मुर्गे से सीखना चाहिए।

विमर्श—यथासमय जागना मुर्गे से सीखना चाहिए। घड़ी गलत हो सकती है, मुर्गा गलत नहीं हो सकता। वह ठीक समय पर सूर्योदय से पूर्व जागकर बाँग देता है। मनुष्य को भी सूर्योदय से पूर्व उठ जाना चाहिए। वेद में कहा है—

उद्यन्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे।
—अथर्व० ७।१३।२

एक वैदिक वीर की घोषणा है—जैसे उदय होता हुआ सूर्य सोते हुए आलसियों के तेज को हर लेता है, उसी प्रकर मैं भी शत्रुओं के तेज और बल को खींच लेता हूँ।

सूर्योदय के पश्चात् सोनेवाले आलसी और निकम्मे हो जाते हैं। उनकी श्री नष्ट हो जाती है, अतः सूर्योदय से पूर्व उठना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के समय सोना पाप माना गया है। जब भरत ननिहाल से लौट आये, उस समय उन्होंने अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए कुछ सौगन्ध=कसमें खाई थीं। उनमें से एक यह थी—

उभे सन्ध्ये शयानस्य यत् पापं परिकल्प्यते।
तत्पापं भवेत् तस्य यस्याऽऽर्योऽनुमते गतः॥

—वा० रा० अयो० ७५।४४

जिसकी सम्मति से आर्य राम को वन में भेजा गया हो, उसे वह पाप लगे, जो पाप दोनों सन्ध्याओं [प्रातः सायं] के समय सोने वाले मनुष्य को लगता है।

बन्धुओं को उनका भाग देना चाहिए। बन्धुओं को उनका भाग न देने के कारण दुर्योधन का नाश हो गया। वेद में कहा है—

केवलाघो भवति केवलादी। —ऋ० १०।११७।६

अकेला खानेवाला पाप ही खाता है।

गूढं च मैथुनं धाष्ट्र्यं काले काले च संग्रहम्।
अप्रमत्तमविश्वासं पञ्च शिक्षेच्च वायसात्॥१८॥

शब्दार्थ—गूढम् छिपकर **मैथुनम्** मैथुन करना **च** और **धाष्ट्र्यम्** ढीठपना **च** तथा **काले-काले** समय-समय पर **संग्रहम्** संग्रह करना, **अप्रमत्तम्** सदा प्रमादरहित होकर जागरूक रहना **च** तथा **अविश्वासम्** किसी पर भी विश्वास न करना—इन **पञ्च** पाँच बातों को **वायसात्** कौए से **शिक्षेत्** सीखना चाहिए।

भावार्थ—छिपकर मैथुन करना, धृष्टता [ढीठपन], समय-समय पर संग्रह करना, निरन्तर सावधान रहना और किसी पर विश्वास न करना—इन पाँच बातों को कौए से सीखना चाहिए।

बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः॥१९॥

शब्दार्थ—बहु-आशी बहुत खाने की शक्ति रखनेवाला **स्वल्प सन्तुष्टः** न मिलने पर थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाना **सुनिद्रः** खूब सोने-

वाला परन्तु **लघुचेतनः** तनिक-सी आहट होते ही जागनेवाला, झटपट जागना, **स्वामिभक्तः** स्वामी की भक्ति, स्वामी के प्रति अनुरक्ति, मालिक के प्रति वफादारी **च च** और **शूरः** शूरता—**एते** ये **षट्** छह **गुणाः** गुण **श्वानतः** कुत्ते से सीखने चाहिएँ।

भावार्थ—बहुत खाने की शक्ति रखना, न मिलने पर थोड़े में ही सन्तोष कर लेना, गाढ़ निद्रा में सोना, तनिक-सी आहट से ही जाग जाना, स्वामी-भक्ति और शूरवीरता—ये छह गुण कुत्ते से सीखने चाहिएँ।

सुश्रान्तोऽपि वहेद् भारं शीतोष्णं न च पश्यति।
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात् ॥२०॥

शब्दार्थ—**सुश्रान्तः-अपि** अत्यन्त थक जाने पर भी **भारम्** भार को **वहेत्** ढोते जाना **च** तथा **शीत-उष्णम्** सरदी-गरमी को **न** नहीं **पश्यति** देखना, सरदी-गरमी की परवाह नहीं करना **च** और **नित्यम्** सदा **सन्तुष्टः** सन्तुष्ट होकर **चरते** विचरना, सन्तोष से जीवन बिताना—इन **त्रीणि** तीन बातों को **गर्दभात्** गधे से **शिक्षेत्** सीखना चाहिए।

भावार्थ- अत्यन्त थक जाने पर भी बोझ ढोते जाना, सरदी-गरमी की परवाह न करना और सदा सन्तोष से जीवन बिताना—इन तीन गुणों को गधे से सीखना चाहिए।

य एतान् विंशतिगुणानाचरिष्यति मानवः।
कार्याऽवस्थासु सर्वासु अजेयः स भविष्यति ॥२१॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

शब्दार्थ--**यः** जो **मानवः** मनुष्य **एतान्** इन **विंशति-गुणान्** बीस गुणों का **आचरिष्यति** आचरण करेगा, इन्हें जीवन में धारण करेगा **सः** वह **सर्वासु** सब **कार्यावस्थासु** कार्यों और अवस्थाओं में **अजेयः** किसी से न जीता जानेवाला, विजयी **भविष्यति** हो जाएगा।

भावार्थ---जो मनुष्य इन बीस गुणों को अपने जीवन में धारण करेगा, वह सब कार्यों और सब अवस्थाओं में विजयी होगा।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
छठा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चाऽपमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥१॥

शब्दार्थ—**अर्थनाशम्** धन का नाश, **मनः तापम्** मन का सन्ताप **च** तथा **गृहे दुश्चरितानि** घर की बुराइयों, दोषों को **वञ्चनम्** किसी के द्वारा ठगे जाने को **च** और **अपमानम्** किसी के द्वारा हुए अपने अपमान को **मतिमान्** बुद्धिमान् **न प्रकाशयेत्** प्रकाशित, प्रकट न करे ।

भावार्थ—बुद्धिमान् को चाहिए कि वह धन का नाश, मन का सन्ताप, घर के दोष, किसी के द्वारा ठगा जाना और अपमानित होना—इन बातों को प्रकाशित न करे, किसी के समक्ष न कहे ।

विमर्श—उपर्युक्त बातों को आप जितना लोगों के सामने कहेंगे, उतना ही अधिक आपका उपहास होगा, सहानुभूति कोई नहीं दिखाएगा। ये आपके निजी विषय हैं, अतः इन्हें गुप्त ही रखिए, इन्हें जितना छिपाकर रखेंगे उतना ही अच्छा है ।

धन-धान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥२॥

शब्दार्थ—**धन-धान्यप्रयोगेषु** धन और अन्न के व्यापार, क्रय-विक्रय में **च** तथा **विद्यासंग्रहणेषु** विद्या का संग्रह, सञ्चय करने में **आहारे** भोजन के विषय में **च** और **व्यवहारे** व्यवहार में **त्यक्तलज्जः** लज्जा, संकोच न करनेवाला मनुष्य **सुखी** सुखी **भवेत्** होता है ।

भावार्थ—धन-धान्य=अन्न के क्रय-विक्रय में, विद्या के संग्रह में आहार और व्यवहार में लज्जा न करनेवाला मनुष्य सुखी होता है ।

विमर्श—लज्जा मनुष्य का भूषण है, विशेषरूप से स्त्रियों का, परन्तु कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनमें लज्जा नहीं करनी चाहिए, उन्हीं की श्लोक में गणना की गई है ।

सन्तोषाऽमृत-तृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
न च तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ।।३।।

शब्दार्थ—**सन्तोष-अमृत-तृप्तानाम्** सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त और **शान्त-चेतसाम्** शान्त चित्तवाले मनुष्यों को **यत्** जिस **सुखम्** सुख की प्राप्ति होती है, **इतः च इतः च** इधर और उधर **धावताम्** दौड़ने और भटकनेवाले **धनलुब्धानाम्** धन के लोभियों को **न च तत्** वह सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

शब्दार्थ—सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त और शान्तचित्तवाले मनुष्यों को जो सुख, शान्ति और आनन्द मिलता है, वह धन के लोभ से इधर-उधर भागनेवाले मनुष्यों को नहीं मिल सकता।

विमर्श—महर्षि पतञ्जलि ने ठीक ही कहा है—

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। —यो० २।४२

सन्तोष से सर्वश्रेष्ठ सुख की प्राप्ति होती है।

किसी कवि ने भी कहा है—

अर्थी करोति दैन्यं लब्धार्थो गर्वमपरितोषं च।
नष्टधनश्च स शोकं सुखमास्ते निःस्पृहः पुरुषः ।।

याचक दीनता प्रदर्शित करता है, धनी गर्व करता है तथा अधिक की इच्छा करता है, जिसका धन नष्ट हो गया है, वह शोक करता है, जो निःस्पृह [सन्तोषी] है, वह सुखी रहता है।

सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने तपदानयोः ।।४।।

शब्दार्थ—**स्वदारे** अपनी पत्नी **भोजने** भोजन और **धने** धन—इन **त्रिषु** तीन वस्तुओं में **सन्तोषः** सन्तोष करना चाहिए **च एव** परन्तु **अध्ययने** अध्ययन करने **तपदानयोः** तप करने और दान देने—इन **त्रिषु** तीन बातों में सन्तोष **न** नहीं **कर्तव्यः** करना चाहिए।

भावार्थ—अपनी पत्नी, भोजन और धन—इन तीन में सन्तोष करना चाहिए परन्तु अध्ययन, तप और दान—इन तीन में कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए।

विमर्श—अपनी पत्नी में ही सन्तोष करना चाहिए—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।।—मनु० ४।१३४

इस संसार में मनुष्य की आयु को क्षीण करनेवाला और कोई वैसा कार्य नहीं है, जैसा दूसरे की स्त्री का सेवन करना, [अतः इसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।]

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति॥

—विदुरनी० ७।८५

पृथिवी पर जितना धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब एक मनुष्य के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं—इस प्रकार विचार करनेवाला मनुष्य मोह में नहीं फँसता।

भोजन के विषय में सन्तोष करना चाहिए—

हित और मित भोजन करना चाहिए। दूसरे के भोजन को देखकर ललचाना नहीं चाहिए—

पेट की मोटर में भोजन की सवारी कम भरो।
फेल हो जाएगी ठूँसाठूँस भर जाने के बाद॥

महर्षि मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत्॥

अधिक खाना स्वास्थ्य को बिगाड़नेवाला, आयु को क्षीण करनेवाला, दुःख देनेवाला और दोनों लोकों को नष्ट करनेवाला है, अतः पेटूपन को त्याग देना चाहिए।

अपने धन के विषय में सन्तोष रखना चाहिए—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥

—हितो० २।२

अपने से नीचे की ओर देखनेवाले किस मनुष्य का गौरव नहीं बढ़ जाता? परन्तु अपने से ऊपर [अधिक धनवालों को] देखनेवाले सभी दरिद्र बन जाते हैं।

अपने से नीचे देखकर धन के विषय में सन्तोष धारण करना चाहिए। अध्ययन में सन्तोष नहीं करना चाहिए—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
ग्रहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मनुष्य को अपने-आपको अजर और अमर समझते हुए विद्या और धन का उपार्जन करना चाहिए परन्तु मृत्यु ने मेरे केशों को पकड़ा हुआ है, पता नहीं यह कहाँ झटका मारेगी, ऐसा सोचकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। अ० १३।२।२५

तपस्वी तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है।

महर्षि मनु ने कहा है—

यद् दुस्तरं दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

—मनु० ११।२३८

जो दुस्तर [कठिनता से पार होने योग्य] है, जो दुर्लभ [कठिनता से प्राप्त होने योग्य] है, जो दुर्गम [कठिनता से चलने=चढ़ने योग्य] है, जो दुष्कर [कठिनता से करने योग्य] है, वह सब तप से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तप से कुछ भी असाध्य नहीं है।

दान खूब देना चाहिए। वेद में कहा है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। —अ० ३।२४।५

हे मनुष्य! सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से दान कर।

महर्षि व्यास लिखते हैं—

द्वावम्भसी निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

—महा० उद्यो० ३३।६५

दो मनुष्यों को गले में बहुत भारी शिला बाँधकर डुबा देना चाहिए—एक तो धनवान् होकर भी दान न देनेवाले कंजूस को, दूसरे पुरुषार्थ न करनेवाले दरिद्र को।

विप्रयोर्विप्रवह्न्योश्च दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः।
अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च॥५॥

शब्दार्थ—**विप्रयोः** दो ब्राह्मणों के **च** तथा **विप्रवह्न्योः** ब्राह्मण और अग्नि के **दम्पत्योः** पति-पत्नी के **स्वामि-भृत्ययोः** स्वामी और सेवक के **हलस्य** हल के **च** और **वृषभस्य** बैल के **अन्तरेण** बीच में होकर **न** नहीं **गन्तव्यम्** जाना चाहिए।

भावार्थ—दो ब्राह्मण, ब्राह्मण और अग्नि, पति और पत्नी, स्वामी

और सेवक तथा हल और बैल—इनके बीच में से होकर नहीं निकलना चाहिए।

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा ॥६॥

शब्दार्थ—**अग्निम्** अग्नि को, **गुरुम्** गुरु को **च** और **न** न **ब्राह्मणम्** ब्राह्मण को **एव** ही **पादाभ्याम्** पैरों से **स्पृशेत्** छूना चाहिए **न-एव** न ही **गाम्** गौ को **च** और **न** न **कुमारीम्** कन्या को **न** न **वृद्धम्** वृद्ध को **तथा** और **न** न **शिशुम्** शिशु को ही पैर से छूना चाहिए।

भावार्थ—अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गौ, कुमारी, वृद्ध और शिशु इन सबको पैर से कभी नहीं छूना चाहिए।

विमर्श—अग्नि को पैर से छूने से पैर जल सकते हैं। गुरु, ब्राह्मण और वृद्ध पूज्य होते हैं, अतः इनको पैर नहीं लगाना चाहिए। कुमारी [कन्या] और शिशु छोटे होने पर भी आदरणीय हैं, ये भावी राष्ट्र के निर्माता हैं, अतः इन्हें भी पैर से नहीं छूना चाहिए। वेद में गौ को लात मारनेवाले के लिए दण्ड का विधान है—

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न छायां करवोऽपरम् ॥

—अथर्व० १३।१।५६

जो मनुष्य गाय को लात मारता है, जो मनुष्य सूर्य की ओर मुख करके मल-मूत्र त्यागता है, ऐसे मनुष्य को मैं जड़मूल से नष्ट करता हूँ, जिससे वह पुनः ऐसे अपमानजनक कार्य न कर सके।

शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्ती शतहस्तेन देशत्यागेन दुर्जनम् ॥७॥

शब्दार्थ—**शकटम्** छकड़ा, गाड़ी को **पञ्चहस्तेन** पाँच हाथ दूर से **वाजिनम्** घोड़े को **दशहस्तेन** दस हाथ दूर से **हस्ती** हाथी को **शतहस्तेन** सौ हाथ दूर से त्याग दे और **दुर्जनम्** दुर्जन को तो **देशत्यागेन** देश-त्याग करके भी छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—गाड़ी से पाँच हाथ दूर रहना चाहिए, घोड़े से दस हाथ और हाथी से सौ हाथ दूर रहना चाहिए, दुर्जन से बचने के लिए तो देश का भी परित्याग कर देना चाहिए।

विमर्श—दुर्जन बड़ा भयंकर होता है, अतः उससे बचने के लिए

देश भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। किसी ने ठीक ही कहा है---

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया।
उपानान्मुखभङ्गं वा दूरतो वा विसर्जनम्॥

दुर्जन और कण्टक=काँटे—इनका प्रतिकार दो प्रकार से ही किया जा सकता है या तो जूतों से इनका मुखमर्दन किया जाए अथवा दूर से ही त्याग दिया जाए।

हस्ती अंकुशहस्तेन वाजी हस्तेन ताड्यते।
शृङ्गी लगुडहस्तेन खड्गहस्तेन दुर्जनः॥८॥

शब्दार्थ--**हस्ती** हाथी **अंकुशहस्तेन** हाथ में पकड़े हुए अंकुश से **वाजी** घोड़ा **हस्तेन** हाथ में लिए हुए चाबुक से **शृङ्गी** सींगवाला पशु **लगुडहस्तेन** हाथ में पकड़े हुए डण्डे से **ताड्यते** वश में किया जाता है, पीटा जाता है और **दुर्जनः** दुष्ट मनुष्य **खड्गहस्तेन** हाथ में ली हुई तलवार से मारा जाता है।

भावार्थ– हाथी हाथ में पकड़े हुए अंकुश से वश में किया जाता है, घोड़ा चाबुक से पीटा जाता है, सींगवाला पशु डण्डे से पीटा जाता है और दुर्जन मनुष्य हाथ में ली हुई तलवार से मारा जाता है।

तुष्यन्ति भोजने विप्रा मयूरा घनगर्जिते।
साधवः परसम्पत्तौ खलः परविपत्तिषु॥९॥

शब्दार्थ—**विप्राः** ब्राह्मण **भोजने** भरपेट भोजन मिलने पर **तुष्यन्ति** सन्तुष्ट होते हैं, **मयूराः** मोर **घनगर्जिते** बादलों के गर्जने पर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं, **साधवः** सज्जन लोग **परसम्पत्तौ** दूसरे को धन-धान्य से सम्पन्न देखकर प्रसन्न होते हैं और **खलाः** दुष्ट लोग **पर-विपत्तिषु** दूसरों की विपत्ति में प्रसन्न होते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मण भरपेट भोजन मिलने पर, मोर बादलों के गर्जने पर, सज्जन दूसरों की सम्पत्ति में और दुष्ट दूसरों की विपत्ति में प्रसन्न होते हैं।

विमर्श—खल दूसरों की विपत्ति में प्रसन्न होता है। किसी ने ठीक ही कहा है---

यथा परोपकारेषु नित्यं जार्गात सज्जनः।
तथा परापकारेषु जार्गात सततं खलः॥

जैसे सज्जन दूसरों का उपकार करने में सदा जागरूक=सावधान रहता है, वैसे सी खल=दुष्ट दूसरों का अपकार करने के लिए सदा तैयार रहता है।

अनुलोमेन बलिनं प्रतिलोमेन दुर्जनम् ।
आत्मतुल्यबलं शत्रुं विनयेन बलेन वा ।।१०।।

शब्दार्थ—**बलिनम्** बलवान् शत्रु को **अनुलोमेन** उसके अनुकूल व्यवहार करके **दुर्जनम्** दुष्ट शत्रु को **प्रतिलोमेन** उसके प्रतिकूल व्यवहार करके वश में करना चाहिए और **आत्मतुल्यबलम्** अपने समान बलवाले **शत्रुम्** शत्रु को **विनयेन** विनय से **वा** अथवा **बलेन** बल से जीते, वश में करे।

भावार्थ—बलवान् शत्रु को उसके अनुकूल व्यवहार करके, दुष्ट शत्रु को उसके प्रतिकूल व्यवहार करके तथा अपने समान बलवाले शत्रु को विनय अथवा बल से जीतना या वश में करना चाहिए।

बाहुवीर्यं बलं राज्ञो ब्राह्मणो ब्रह्मविद् बली ।
रूपयौवनमाधुर्यं स्त्रीणां बलमुत्तमम् ।।११।।

शब्दार्थ—**राज्ञः** राजा का **बलम्** बल **बाहुवीर्यम्** भुजाओं का बल है, **ब्रह्मविद्** वेद और ईश्वर को जाननेवाला **ब्राह्मणः** ब्राह्मण **बली** बलवान् होता है। **रूपयौवन-माधुर्यम्** सौन्दर्य, यौवन और माधुर्य **स्त्रीणाम्** स्त्रियों का **अनुत्तमम्** सर्वश्रेष्ठ **बलम्** बल होता है।

भावार्थ—भुजबल राजा का बल होता है, ब्रह्मज्ञान और वेद का पाण्डित्य ब्राह्मण का बल होता है, सौन्दर्य, यौवन और मधुरभाषण स्त्रियों का बल होता है।

विमर्श—विधाता ने क्षत्रियों का बल उनकी भुजाओं में भर दिया है। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध से ठीक ही कहा था—

क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु । —महा० सभा २१।५१

क्षत्रियों का बल और पराक्रम उनकी भुजाओं में होता है।

ब्राह्मण का बल उसकी वाणी में होता है। वह वेद का स्वाध्याय कर दूसरों को भी अमृत पिलाता है।

नारी का बल उसके रूप, यौवन और मधुरभाषण में होता है। चाणक्यजी अन्यत्र लिखते हैं—

यस्य भार्या सुरूपा च भर्तारमनुगामिनी ।
नित्यं मधुरवक्त्री च सा श्रियो न श्रियः श्रियः ॥

—चा० सारसंग्रह २।८२

धन को धन नहीं कहते अपितु जिसकी पत्नी रूपवती, पति के अनुकूल चलनेवाली और सदा मीठा बोलनेवाली है, वस्तुतः वही श्री=गृहलक्ष्मी है।

नाऽत्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥१२॥

शब्दार्थ—**अत्यन्तम्** अत्यधिक **सरलैः** सीधे स्वभाव का **न भाव्यम्** नहीं होना चाहिए। **वनस्थलीम्** वन में **गत्वा** जाकर **पश्य** देखो **तत्र** वहाँ **सरलाः** सीधे वृक्ष **छिद्यन्ते** काट दिये जाते हैं और **कुब्जाः** टेढ़े-मेढ़े **पादपाः** वृक्ष **तिष्ठन्ति** खड़े रहते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को अत्यन्त सरल और सीधे स्वभाव का नहीं बनना चाहिए। वन में जाकर देखो, वहाँ सीधे वृक्ष काट डाले जाते हैं और टेढ़े-मेढ़े वृक्ष खड़े रहते हैं, उन्हें कोई नहीं काटता।

विमर्श—मनुष्य को इतना सरल=सीधा-सादा नहीं बनना चाहिए कि जो देखे वही मुख में डाल ले। मनुष्य में कोमलता हो परन्तु साथ ही उसमें तीक्ष्णता भी होनी चाहिए, दुष्टों को दण्ड देने की शक्ति भी होनी चाहिए।

यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसाः
तथैव शुष्कं परिवर्जयन्ति ।
न हंसतुल्येन नरेण भाव्यं
पुनस्त्यजन्ते पुनराश्रयन्ते ॥१३॥

शब्दार्थ—**यत्र** जहाँ **उदकम्** जल होता है **हंसाः** हंस **तत्र** वहीं **वसन्ति** रहते हैं **तथा** और **शुष्कम्** जल सूख जाने पर उस स्थान को **परित्यजन्ति एव** छोड़ ही देते हैं परन्तु **नरेण** मनुष्य को **हंसतुल्येन** हंस के समान **न** नहीं **भाव्यम्** बनना चाहिए कि जो **पुनः** बार-बार **त्यजन्ते** छोड़ देते हैं और **पुनः** बार-बार **आश्रयन्ते** आश्रय लेते हैं अर्थात् मनुष्य को स्वार्थी नहीं होना चाहिए।

भावार्थ—जहाँ जल होता है, हंस वहीं वसते हैं, जब जल सूख

जाता है, तब वे उस स्थान को त्याग देते हैं परन्तु मनुष्य को हंस के समान बार-बार आने-जानेवाला, स्वार्थी नहीं होना चाहिए।

विमर्श—संसार में सभी स्वार्थी हैं। तुलसीदास जी कहते हैं—

सुर नर मुनि सबकी यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

और भी

स्वारथ के सब ही सगे बिन स्वारथ कोउ नाहिं।
सेवें पक्षी सरस तरु निरस भये उड़ि जाहिं।

मनुष्य को इस स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थी=परोपकारी बनना चाहिए।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम् ॥१४॥

शब्दार्थ—**उपार्जितानाम्**—अर्जित, कमाये हुए **वित्तानाम्** धनों का **त्यागः** त्याग करना [दान देना, व्यय करना] **एव हि** ही **रक्षणम्** उनकी रक्षा है **इव** जैसे **तडाग-उदर-संस्थानाम्** तालाब के भीतर भरे हुए **अम्भसाम्** जलों को **परीवाहः** निकालने से ही उनकी रक्षा होती है।

भावार्थ—कमाये हुए धन को व्यय करना [दान देना, भोग करना] ही उसकी रक्षा है, जैसे तालाब के भीतर भरे हुए जल को निकालते रहने से ही पानी शुद्ध और पवित्र रहता है।

विमर्श—भर्तृहरिजी ने धन की तीन गतियाँ बताई हैं—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

—नीतिश० ३९

'दान देना, उपभोग करना और नष्ट होना'—धन की ये तीन ही गतियाँ हैं। जो न तो दान देता है और न भोग करता है, उसका धन नष्ट हो जाता है, अतः धन की रक्षा के लिए दान दो और भोग करो।

यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्याऽर्थाः स पुमाँल्लोके यस्याऽर्थाः स च जीवति ॥१५॥

शब्दार्थ—**लोके** संसार में **यस्य** जिसके पास **अर्थाः** धन होता है **तस्य** उसके सब **मित्राणि** मित्र बन जाते हैं **यस्य** जिसके पास **अर्थाः**

द्रव्य हो **तस्य** उसके सब **बान्धवाः** बन्धु बन जाते हैं, **यस्य** जिसके पास **अर्थाः** धन हो **सः** वही **पुमान्** मनुष्य, बड़ा आदमी गिना जाता है **च** और **यस्य** जिसके पास **अर्थाः** धन होता है **सः** वही **जीवति** ठाठ-बाट से जीता है।

भावार्थ—संसार में जिसके पास धन है, उसी के सब मित्र होते हैं, उसी के सब बन्धु-बान्धव होते हैं, वही श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता है और वही ठाठ-बाट से जीता है।

विमर्श—धन के बिना कार्य नहीं चलता। धन परमात्मा नहीं है परन्तु उसका छोटा भाई अवश्य है। सभी ने धन की महिमा के गीत गाये हैं। भर्तृहरि ने भी ठीक ही कहा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥

—नीतिश० ३७

जिस के पास धन है, वही कुलीन माना जाता है, वही विद्वान् है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणी है, वही वक्ता=बोलनेवाला है और वही दर्शनीय है। सारे गुण स्वर्ण में निवास करते हैं।

धन आवश्यक है। धन कमाओ परन्तु ईमानदारी से कमाओ।

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवाऽर्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥१६॥

शब्दार्थ—**इह** यहाँ, इस **जीवलोके** संसार में **स्वर्गस्थितानाम्** स्वर्ग में रहनेवालों के **देहे** शरीर में **चत्वारि** चार **चिह्नानि** चिह्न **वसन्ति** वसते हैं, रहते हैं—**दानप्रसङ्गः** दान का स्वभाव **च** तथा **मधुरा वाणी** मधुरभाषण **देव+अर्चनम्** देवों को आदर-सत्कार **च** और **ब्राह्मण-तर्पणम्** वेद के विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठों को तृप्त करना।

भावार्थ—इस संसार में स्वर्गवासियों के शरीर में चार चिह्न होते हैं—१. दान देने का स्वभाव, २. मधुर-भाषण, ३. देवों का सत्कार और ४. ब्राह्मणों को तृप्त करना।

विमर्श—'इस संसार में स्वर्ग में रहनेवाले'—इस कथन से यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग यहीं है, इसी संसार में है और वह स्वर्ग है—

'आदर्श गृहस्थाश्रम'। प्रत्येक आदर्श गृहस्थी के जीवन में चार बातें होती हैं—

१. वे दानशील होते हैं। वे सैकड़ों हाथों से कमाते और सहस्रों हाथों से दान करते हैं।

२. वे मधुरभाषी होते हैं, वे जब बोलते हैं, तो उनके मुख से फूल झड़ते हैं। उनकी जिह्वा के अग्रभाग पर मधु होता है और जिह्वा के मूल=हृदय में मधु का छत्ता।

३. वे देवां का आदर करनेवाले होते हैं। उपनिषद् के अनुसार वे माता-पिता, अतिथि और आचार्य—इन देवों का आदर-सत्कार कर उन्हें सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट रखते हैं।

४. वे ब्राह्मण=वेद के विद्वान् और ब्रह्म को जाननेवाले विद्वानों को भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा सदा तृप्त करते हैं।

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥१७॥

शब्दार्थ—**अत्यन्तकोपः** अत्यन्त क्रोध **च** और **कटुका वाणी** अत्यन्त कटु, कठोर और कर्कश भाषण **दरिद्रता** दरिद्रता, निर्धनता **स्वजनेषु** अपने बन्धु-बान्धवों के साथ **वैरम्** वैर-भावना **नीचप्रसङ्गः** नीचों की सङ्गति **च** तथा **कुलहीनसेवा** कुलहीन की सेवा—ये **चिह्नानि** चिह्न **नरकस्थितानाम्** नरक में रहनेवालों के **देहे** शरीर में होते हैं।

भावार्थ—नरक में रहनेवालों के शरीर में निम्न चिह्न होते हैं—१. अत्यन्त क्रोधीस्वभाव २. कटुभाषण, ३. दरिद्रता, ४. कुत्ते की भाँति अपनों से वैर ५. नीचों की संगति और ६. कुलहीनों की सेवा।

विमर्श—जिन स्त्री-पुरुषों में उपर्युक्त छह चिह्न दिखाई दें, समझ लो वे नरक [पतित, बिगड़े हुए गृहस्थाश्रम] में निवास करते हैं।

गम्यते यदि मृगेन्द्र-मन्दिरं
लभ्यते करिकपोलमौक्तिकम्।
जम्बुकाऽऽलयगते च प्राप्यते
वत्स-पुच्छ-खर-चर्म-खण्डनम् ॥१८॥

शब्दार्थ—**यदि** यदि कोई मनुष्य **मृगेन्द्र-मन्दिरम्** सिंह की गुफा में **गम्यते** पहुँच जाए तो उसे वहाँ **करिकपोलमौक्तिकम्** हाथी के मस्तक का मोती **लभ्यते** प्राप्त होता है **च** और **जम्बुकालयगते** गीदड़ के स्थान में जाने पर **वत्स-पुच्छ-खर-चर्म-खण्डनम्** बछड़े की पूँछ तथा गधे के चमड़े का टुकड़ा **प्राप्यते** मिलता है।

भावार्थ—सिंह की गुफा में जाने पर हाथी के मस्तक का मोती प्राप्त होता है और गीदड़ के स्थान में जाने पर बछड़े की पूँछ तथा गधे के चमड़े का टुकड़ा मिलता है।

विमर्श—बड़ों के साथ मैत्री करनी चाहिए, नीचों के साथ नहीं।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे ॥१९॥

शब्दार्थ—**विद्यया विना** विद्या के विना **जीवितम्** मनुष्य का जीवन **शुनः** कुत्ते की **पुच्छम् इव** पूँछ की भाँति **व्यर्थम्** व्यर्थ है, क्योंकि कुत्ते की पूँछ न न तो **गुह्यगोपने** गुप्त-इन्द्रिय को ढकने में **शक्तम्** समर्थ है **च** और न न ही **दंशनिवारणे** मच्छर आदि जीवों को उड़ा सकती है।

भावार्थ—विद्या के बिना मनुष्य जीवन कुत्ते की पूँछ के समान व्यर्थ है, क्योंकि कुत्ता अपनी पूँछ से न तो गुप्त-इन्द्रिय को ढक सकता है और न ही मच्छर आदि को उड़ा सकता है। कुत्ते की भाँति मूर्ख मनुष्य भी न तो छिपाने योग्य बात को छिपा सकता है और न शत्रुओं के आक्रमण को व्यर्थ कर सकता है।

वाचः शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूते दया शौचं एतच्छौचं परार्थिनाम् ॥२०॥

शब्दार्थ—**वाचः** वाणी की **शौचम्** पवित्रता **च** और **मनसः** मन की **शौचम्** शुद्धि, **इन्द्रियनिग्रहः** इन्द्रियों का संयम **सर्वभूते दया** प्राणिमात्र पर दया और **शौचम्** धन की पवित्रता—**एतत्** यही **परा-र्थिनाम्** परोपकारियों अथवा मोक्ष चाहनेवालों की **शौचम्** शुद्धि, पवित्रता है।

भावार्थ—मन और वाणी की पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, प्राणि-मात्र पर दया और अर्थ=धन की पवित्रता—यही परोपकारियों अथवा मुमुक्षुओं की शुद्धि, पवित्रता मानी गई है।

विमर्श—शौच किसे कहते हैं? महर्षि व्यास लिखते हैं—

'ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ।।

—महा० आश्व० परि० २२१६

ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा, शराब और मांस का त्याग, मर्यादा के भीतर रहना और मन को वश में रखना—ये सारी बातें शौच=पवित्रता के लक्षण हैं।

महर्षि व्यास पाँच प्रकार की शुद्धि मानते हैं जिसमें मन और वचन की शुद्धि भी सम्मिलित है—

'मनः शौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ।। —वही ३२३०

मनःशुद्धि, कर्मशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीर-शुद्धि और वाणी की शुद्धि—यह पाँच प्रकार की शुद्धि कही गई है।

'पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।
हृदयस्य तु शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ।। वही

इन पाँचों प्रकार की पवित्रताओं में हृदय=मन की पवित्रता सर्व-श्रेष्ठ है। मन की पवित्रता से मनुष्य स्वर्ग में जाता है।

अर्थ की पवित्रता—महर्षि मनु ने अर्थ की पवित्रता को सर्वोपरि माना है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ।।—मनु० ५।१०६

सब पवित्रताओं में धन की पवित्रता सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, जो धन के सम्बन्ध में पवित्र है [जिसने अन्याय आदि के द्वारा किसी का धन नहीं लिया है] वही पवित्र है, जो केवल मिट्टी-जलादि से पवित्र है, वह पवित्र नहीं है।

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निं पयसि घृतम् ।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽऽत्मानं विवेकतः ।।२१।।

इति सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

शब्दार्थ—हे मनुष्य ! जैसे तू **पुष्पे** पुष्प में **गन्धम्** सुगन्धि को, **तिले** तिल में **तैलम्** तेल को **काष्ठे** लकड़ी में **अग्निः** अग्नि को **पयसि** दूध में **घृतम्** घी को **इक्षौ** ईख में **गुडम्** गुड़ को विचारपूर्वक देखता है,

---

१. ये उद्धरण पूना संस्करण के हैं।

वैसे ही तू **देहे** शरीर में स्थित **आत्मानम्** आत्मा को **विवेकतः** विवेक से **पश्य** देख।

भावार्थ—जैसे पुष्प में गन्ध होती है, तिलों में तेल, काष्ठ में अग्नि, दूध में घी और ईख में गुड़ होता है, वैसे ही शरीर में आत्मा=आत्मा और परमात्मा विद्यमान हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को विवेक के द्वारा आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

विमर्श—मानव जीवन पाकर आत्मदर्शन के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए। उपनिषदों का सन्देश है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि॥ —बृहदा० २।४।५

अरी मैत्रेयि! आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। उसी के सम्बन्ध में सुनना चाहिए, उसी का चिन्तन और मनन करना चाहिए, उसी का ध्यान और उपासना करनी चाहिए।

कहाँ मिलता है वह परमात्मा? वह हृदय-मन्दिर में है। उसे ढूंढने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। जो प्रभु को बाहर खोजते हैं उनकी अवस्था तो ऐसी है—

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्त्वा हस्तस्थकौस्तुभम्॥
—महोप० ६।२०

जो लोग हृदयरूपी गुहा में विराजमान परमेश्वर को छोड़कर, दूसरे देवता को ढूंढते फिरते हैं, वे मानो मुट्ठी में पकड़ी हुई मणि को छोड़कर काँच के टुकड़े को इधर-उधर ढूंढते फिरते हैं।

किसी और विचारक ने भी कहा है—

बहिर्भ्रमति यः कश्चित्त्यक्त्वा देहस्थमीश्वरम्।
सो गृहपायसं त्यक्त्वा भिक्षामटति दुर्मतिः॥

जो शरीर में स्थित परमेश्वर को छोड़कर बाहर भटकता-फिरता है, वह उस मूर्ख के समान है जो घर की खीर को छोड़कर भिक्षा माँगता फिरता है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
सातवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥१॥[1]

शब्दार्थ—जो लोग केवल **धनम्** धन **इच्छन्ति** चाहते हैं, वे **अधमाः** अधम कोटि के होते हैं, जो **धनम्** धन **च** और **मानम्** मान—दोनों चाहते हैं, वे **मध्यमाः** मध्यम श्रेणी के मनुष्य होते हैं, जो केवल **मानम्** आदर-सम्मान **इच्छन्ति** चाहते हैं, वे **उत्तमाः** उत्तम कोटि के मनुष्य होते हैं, **हि** क्योंकि **महताम्** बड़े लोगों, महात्माओं का **धनम्** धन **मानः** मान [आदर] ही है ।

भावार्थ—अधम पुरुष धन की कामना करते हैं, मध्यम कोटि के पुरुष धन और मान दोनों चाहते हैं, उत्तम श्रेणी के पुरुष को केवल मान [आदर-सम्मान] की ही इच्छा रहती है, क्योंकि महापुरुषों के लिए सम्मान ही सबसे बड़ा धन है ।

इक्षुरापः पयो मूलं ताम्बूलं फलमौषधम् ।
भक्षयित्वाऽपि कर्तव्याः स्नानदानाऽऽदिकाः क्रियाः ॥२॥

शब्दार्थ—**इक्षुः** गन्ना, ईख, **आपः** जल, **पयः** दूध, **मूलम्** कन्द, पीप्पली आदि के मूल, **ताम्बूलम्** पान, **फलम्** फल और **औषधम्**—औषध—इन वस्तुओं को **भक्षयित्वा** खा-पीकर **अपि** भी **स्नानदान-आदिकाः** स्नान, दान, [पूजा-पाठ] आदि **क्रियाः** क्रियाएँ **कर्तव्याः** करनी चाहिएँ, की जा सकती हैं ।

भावार्थ—गन्ना, जल, दूध, कन्द, पान, फल और ओषधि—इनका सेवन करने पर भी स्नान-दान [पूजा-पाठ आदि] धर्म-कार्य किये जा सकते हैं ।

---

१. यह श्लोक थोड़े-से अन्तर के साथ शुक्रनीति [२।४०] में उपलब्ध होता है ।

विमर्श—अशक्ति, रोग, यात्रा, व्यसन आदि के कारण जल, पान, ओषधि आदि का सेवन करके भी सन्ध्या, यज्ञ, पूजा-पाठ, स्नान, दान आदि क्रियाएँ करनी चाहिएँ, बहाना बनाकर शुभ कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं जायते तादृशी प्रजा ॥३॥

शब्दार्थ—**दीपः** दीपक **ध्वान्तम्** अन्धकार का **भक्षयते** भक्षण करता है **च** और **कज्जलम्** काले काजल को **प्रसूयते** उत्पन्न करता है। ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य **नित्यम्** सदैव **यत्** जैसा **अन्नम्** अन्न **भक्षयते** खाता है, उसके **तादृशी** वैसी ही **प्रजा** सन्तान **जायते** उत्पन्न होती है।

भावार्थ—दीपक अन्धकार खाता है और काजल उत्पन्न करता है, इसी प्रकार जो मनुष्य जैसा अन्न खाता है, उसके वैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है।

विमर्श—अन्न से पुरुष के शरीर में शुक्राणु तथा स्त्री के शरीर में आर्तव उत्पन्न होता है और इनसे प्रजा उत्पन्न होती है, अतः जैसा अन्न खाया जाएगा, वैसी ही सन्तान पैदा होगी।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। —छान्दो० ७।२६।२

आहार-शुद्ध होने पर शरीर की रस-रक्त आदि सप्त-धातुएँ शुद्ध होती हैं और अन्तःकरण में निर्मलता आती है।

सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं विशिष्यते।

—बृहस्पति

सब शुद्धियों में अन्न की शुद्धि का विशेष महत्त्व है।

शरीर और मन का निर्माण अन्न से होता है तथा प्रजा भी अन्न से ही उत्पन्न होती है, अतः शुद्ध, सात्विक अन्न-सेवन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

वित्तं देहि गुणान्वितेषु मतिमन्नान्यत्र देहि क्वचित्
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं घनमुखे माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवान्स्थावरजङ्गमांश्च सकलान् संजीव्य भूमण्डलम्
भूयः पश्य तदेव कोटिगुणितं गच्छन्तमम्भोनिधिम् ॥४॥

शब्दार्थ--**मतिमन्** हे बुद्धिमन् ! **गुण-अन्वितेषु** गुणों से युक्त मनुष्यों को **वित्तम्** धन **देहि** दो **अन्यत्र** औरों को, गुणहीनों को **क्वचित्** कभी **न देहि** मत दो। **वारिनिधेः** समुद्र का **जलम्** जल **घनमुखे** मेघ, बादल के मुख में **प्राप्तम्** प्राप्त होकर **सदा** सदा **माधुर्ययुक्तम्** माधुर्य से युक्त हो जाता है **च** और **भू-मण्डलम्** भूमण्डल पर स्थित **सकलान्** सभी **स्थावरजङ्गमान्** जड़ और चेतन, अचर और चर **जीवान्** जीवों को **संजीव्य** जीवन देकर **भूयः** फिर **तत् एव** उसी जल को **कोटिगुणितम्** कोटि गुना होकर **अम्भोनिधिम्** समुद्र में **गच्छन्तम्** जाता हुआ **पश्य** देखो!

भावार्थ--हे बुद्धिमन् ! गुणी पुरुषों को ही धन दो, गुणहीनों को नहीं। देखो, समुद्र का खारी जल बादल के मुख में प्राप्त होकर मधुर हो जाता है और पृथिवी पर जड़ और चेतन सभी जीवों को जीवन प्रदान करके वही जल करोड़ों गुना होकर समुद्र में चला जाता है।

विमर्श--जैसे बादल समुद्र के खारी जल को मीठा बनाकर संसार के जीवन का हेतु होता है, उसी प्रकार गुणवानों को दिया हुआ धन भी परोपकार में लगता है, गुणहीनों को दिया हुआ धन शराब-कबाब और व्यसनों में नष्ट हो जाता है, अतः गुणीजनों को ही धन देना चाहिए।

चाण्डालानां सहस्रे च सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
एको हि यवनः प्रोक्तो न नीचो यवनात् परः ॥५॥

शब्दार्थ--**तत्त्वदर्शिभिः** तत्त्वदर्शी **सूरिभिः** विद्वानों के द्वारा **प्रोक्तः** कहा गया है कि **सहस्रे** एक सहस्र **चाण्डालानाम्** चाण्डालों के समान **एकः** एक **यवनः** यवन **हि** ही होता है **यवनात्परः** यवन से बढ़कर **नीचः न** दूसरा कोई नीच नहीं है।

भावार्थ--तत्त्वदर्शी विद्वानों का कथन है कि एक यवन एक सहस्र चाण्डालों के समान होता है, यवन से बढ़कर नीच कोई नहीं होता।

तैलाऽभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि।
तावद्भवति चाण्डालो यावत्स्नानं न चाऽऽचरेत् ॥६॥

शब्दार्थ—**तैल-अभ्यङ्गे** तेल की मालिश करने पर, **चिताधूमे** चिता के धूम का स्पर्श होने पर, **मैथुने** स्त्री के साथ सम्भोग करने के पश्चात् और **क्षौरकर्मणि** हजामत बनवाने के पश्चात् मनुष्य **यावत्**

जब तक **स्नानम्** स्नान **न+आचरेत्** नहीं कर लेता **तावत्** तब तक **चाण्डालः** चाण्डाल **भवति** होता है।

भावार्थ—शरीर में तेल की मालिश करने के पश्चात्, श्मशान में जाने पर, स्त्री के साथ मैथुन करने और हजामत बनवाने के पश्चात् मनुष्य जब तक स्नान नहीं कर लेता तब तक वह चाण्डाल होता है।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बल-प्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम् ॥७॥

शब्दार्थ—**अजीर्णे** अपच होने पर **वारि** जल-पीना **भेषजम्** औषध है **जीर्णे** भोजन के पच जाने पर **वारि** जल का सेवन **बल-प्रदम्** बल देनेवाला है **च** और **भोजने** भोजन के मध्य में **वारि** जल का पीना **अमृतम्** अमृत के समान गुणकारी है परन्तु **भोजनान्ते** भोजन के अन्त में जल का सेवन **विष-प्रदम्** विष के समान हानिकारक होता है।

भावार्थ—अपच में जल पीना औषध के समान है, भोजन पचने पर पानी पीना बलप्रद है, भोजन के मध्य में जल का सेवन अमृत के समान गुणकारी है और भोजन के अन्त में पानी पीना विष के समान हानि-कारक है।

विमर्श—अजीर्ण में भोजन न करके केवल जल पीना औषध का काम करता है। भोजन पच जाने पर अर्थात् भोजन करने के तीन घण्टे बाद जल का सेवन करने से पाचन में बाधा उत्पन्न न करने के कारण वह बलदायक होता है। भोजन के बीच में घूँट-घूँट करके पिया हुआ जल भोजन में रुचि उत्पन्न करने के कारण अमृत के समान गुणकारी होता है और भोजन करके तुरन्त सेवन किया हुआ जल पाचक रसों को पतला करके तथा भोजन को बहुत शीघ्र महास्रोत में नीचे ले जाने के कारण विष के समान हानिकारक होता है।

अत्यम्बुपान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥

—क्षेमकुतूहल

अधिक पानी पीने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता, और बिलकुल पानी न पीने से भी वही दोष होता है, अतः जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए मनुष्य को भोजन के मध्य में बार-बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना चाहिए।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाऽज्ञानतो नरः ।
हतं निर्नायकं सैन्यं स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृकाः ॥८॥

शब्दार्थ—**क्रियाहीनम्** आचरण से रहित **ज्ञानम्** ज्ञान **हतम्** व्यर्थ है **च** और **अज्ञानतः** अज्ञान से **नरः** मनुष्य **हतः** मारा जाता है, नष्ट हो जाता है, **निःनायकम्** नायक, सेनापति से रहित **सैन्यम्** सेना **हतम्** मारी जाती है, **अभर्तृकाः** स्वामीहीन, पति से रहित **स्त्रियः** नारियाँ **हि** भी **नष्टाः** नष्ट हो जाती हैं ।

भावार्थ—आचरण के बिना ज्ञान व्यर्थ है, अज्ञान से मनुष्य नष्ट हो जाता है । सेनापति के बिना सेना नष्ट हो जाती है और पति से रहित स्त्रियाँ भी नष्ट हो जाती हैं ।

विमर्श—आचरण से रहित ज्ञान व्यर्थ है—

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

—महा० वन० ३१३।११०

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले और शास्त्र का विचार करनेवाले-- ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं, पण्डित तो वही है, जो शास्त्रोक्त कर्तव्य का पालन करता है, ज्ञान को आचरण में लाता है ।

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

—मनु० १२।१०३

अज्ञ=मूर्खों से ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ होते हैं, ग्रन्थ पढ़नेवालों से ग्रन्थों को धारण [स्मरण] करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं, धारण करनेवालों की अपेक्षा ज्ञानी [उनका अभिप्राय समझनेवाले] श्रेष्ठ होते हैं और ज्ञानियों की अपेक्षा तदनुकूल आचरण करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं ।

सत्यं तपो ज्ञानमहिंसता च विद्वत्प्रणामं च सुशीलता च ।
एतानि यो धार्यते स विद्वान् न केवलं यः पठते स विद्वान् ॥

सत्य, तप=द्वन्द्व-सहन, ज्ञान, अहिंसा=वैरत्याग, विद्वानों को नमस्कार और सुशीलता—जो इन गुणों को धारण करता है, वह विद्वान् है, केवल पाठ करनेवाला विद्वान् नहीं है ।

अज्ञान से मनुष्य मारा जाता है । वेद में कहा है—

मज्जन्त्यविचेतसः । —ऋ० ६।८६।५

अज्ञानी डूब जाते हैं।

ज्ञान क्या है ?

> तद्गृहं यत्र वसतिस्तद् भोज्यं येन जीवति।
> यन्मुक्तये तदेवोक्तं ज्ञानमज्ञानमन्यथा ॥
>
> —मार्कण्डेयपुराण

जहाँ निवास होता है, वह घर है, जिससे मनुष्य जीवित रहता है, वह अन्न है, जिससे मोक्ष मिलता है, वह ज्ञान है, शेष सब अज्ञान है।

नायक से हीन सेना मारी जाती है। इसकी व्याख्या के लिए ५।७ का विमर्श देखें।

वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्ते गतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥९॥

शब्दार्थ—**वृद्धकाले** वृद्धावस्था, बुढ़ापे में **मृता** मरी हुई **भार्या** पत्नी, **बन्धुहस्ते** बन्धु-बान्धवों, यार-दोस्तों के हाथ में **गतम्** गया हुआ **धनम्** धन **च** और **पराधीनम्** दूसरे के अधीन **भोजनम्** भोजन—ये तीन बातें **पुंसाम्** पुरुषों की **विडम्बनाः** विडम्बना हैं, मृत्यु के समान दुःख देनेवाली हैं।

भावार्थ—वृद्धावस्था में पत्नी का देहान्त हो जाना, अपने धन का भाई-बन्धुओं के हाथ में चला जाना और भोजन के लिए दूसरों का मुँह तकना—ये तीनों बातें मनुष्यों के लिए मृत्यु के समान दुःख देने-वाली हैं।

नाग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया।
न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥१०॥

शब्दार्थ—**अग्निहोत्रम् विना** अग्निहोत्र के बिना **वेदाः** वेद का अध्ययन **न** व्यर्थ है **च** और **दानम् विना** दान-दक्षिणा के बिना **क्रिया** यज्ञादि कर्म **न** निष्फल हैं, **भावेन विना** भावना, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा के बिना **सिद्धिः** सिद्धि, सफलता **न** प्राप्त नहीं होती, **तस्मात्** इसलिए **भावः** भाव=श्रद्धा-भक्ति **हि** ही **कारणम्** सब सिद्धियों, सफलताओं का मूल है।

भावार्थ—अग्निहोत्र के बिना वेद पढ़ना व्यर्थ होता है, दान और दक्षिणा के बिना यज्ञादि क्रियाएँ निष्फल होती हैं, श्रद्धा और भक्ति के

बिना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती, अतः भावना ही सब सिद्धियों का मूल कारण है।

विमर्श—अग्निहोत्र के बिना वेद का अध्ययन व्यर्थ है। नारद ने युधिष्ठिर से पूछा--

कच्चित्ते सफला वेदाः। -महा० सभा० ५।१११

क्या आपका वेद पढ़ना सफल है?

युधिष्ठिर ने प्रतिप्रश्न किया--

कथं वै सफला वेदाः। --वही० ५।११२

देवर्षे! वेद कैसे सफल होते हैं?

नारद ने कहा—

अग्निहोत्रफलं वेदाः। --वही ५।११३

राजन्! वेदों की सफलता अग्निहोत्र से होती है।

अग्निहोत्र प्रतीक है परोपकार का, शुभ और श्रेष्ठ कर्मों का। जिसने वेद पढ़कर श्रेष्ठ और शुभ कर्म नहीं किये, परोपकार नहीं किया, परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं किया, उसका वेद पढ़ना व्यर्थ है।

दान और दक्षिणा के बिना यज्ञादि क्रिया निष्फल हैं। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—

कथं यज्ञो मृतं भवेत्। --महा० वन० ३१३।८३

युधिष्ठिरजी ने उत्तर दिया—

मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः। --वही ३१३।८४

बिना दक्षिणा का यज्ञ नष्ट हो जाता है।

काष्ठपाषाणधातूनां कृत्वा भावेन सेवनम्।
श्रद्धया च तया सिद्धस्तस्य विष्णुः प्रसीदति ॥११॥

शब्दार्थ—**काष्ठ-पाषाण-धातूनाम्** लक्कड़, पत्थर और लोहे आदि धातुओं का **भावेन** भावना **च** और **श्रद्धया** श्रद्धा से **सेवनम्** सेवन **कृत्वा** करके **तया** उस [भावना] के द्वारा मनुष्य **सिद्धः** सिद्ध हो जाता है, अथवा सिद्धि प्राप्त कर लेता है और **तस्य** उस भक्त पर **विष्णुः** परमेश्वर **प्रसीदति** प्रसन्न होता है।

भावार्थ—लक्कड़, पत्थर और धातु की भावना तथा श्रद्धा से पूजा करने पर सिद्धि प्राप्त होती है और परमात्मा अपने उस भक्त पर प्रसंन्न होता है।

विमर्श---'भावना' शब्द को लोगों ने बहुत गलत समझा है। 'भावना' का ठीक-ठीक तात्पर्य समझने के लिए निम्न सन्दर्भ को पढ़ जाइए---

"तुम मृतिका में स्वर्ण-रजतादि, पाषाण में हीरा-पन्ना आदि, समुद्र-फेन में मोती, जल में घृत, दुग्ध, दही आदि और धूलि में मैदा-शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसा क्यों नहीं बनाते हो? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते, वह क्यों होता और सुख की भावना सदैव करते हो, वह क्यों नहीं प्राप्त होता। अन्धा पुरुष नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं करते क्यों मर जाते हो? इसलिए तुम्हारी भावना सच्ची नहीं, क्योंकि जैसे में वैसी करने का नाम 'भावना' है, जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना 'अभावना' है।"

—सत्यार्थ० एकादशसमुल्लास

लक्कड़ और पत्थर पूजनेवालों पर परमात्मा प्रसन्न नहीं होता। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मूर्तिपूजा के सोलह दोष गिनाये हैं, उनमें सातवाँ इस प्रकार है—

"जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें, तो वह उसपर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान करता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्तियाँ धरते हैं, उन दुष्ट बुद्धिवालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे।"

--सत्यार्थ० एकादशसमुल्लास

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥१२॥

शब्दार्थ—**देवः** देव, परमेश्वर **काष्ठे** लक्कड़ में **न विद्यते** नहीं है **पाषाणे न** पत्थर में भी नहीं है **मृन्मये न** मिट्टी की मूर्ति में भी नहीं है **हि** निश्चय ही **देवः** परमेश्वर **भावे** भाव में **विद्यते** विद्यमान है **तस्मात्** इसलिए जहाँ **भावः** भावना करें **हि** वहाँ ही **कारणम्** परमेश्वर सिद्ध होता है, प्रकट होता है।

भावार्थ—परमेश्वर लक्कड़, पत्थर और मिट्टी से निर्मित मूर्तियों में नहीं है। परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है, जहाँ भावना करें वहाँ

ही परमेश्वर प्रकट हो जाता है।

विमर्श—यह कहना गलत है कि परमेश्वर लक्कड़, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में नहीं है। परमेश्वर तो सर्वव्यापक है। वह अणु-अणु और कण-कण में विद्यमान है, परन्तु उसका दर्शन हृदय-मन्दिर में ही होता है। निरन्तर ओम् का जप और योगाभ्यास करने से वह हृदय-मन्दिर में ही प्रकट होता है। प्रतिदिन लाखों व्यक्ति मन्दिरों में जाकर सिर पटकते हैं परन्तु आज तक किसी को परमेश्वर के दर्शन नहीं हुए। वेद में कहा है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति। —यजु० ३२।३

उस सर्वव्यापक, अगोचर, शब्द, रस रूप आदि रहित परमेश्वर की कोई मूर्ति नहीं है।

शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः ॥१३॥

शब्दार्थ—**शान्तितुल्यम्** शान्ति के समान दूसरा कोई **तपः** तप **न+अस्ति** नहीं है, **सन्तोषात्** सन्तोष से **परम्** श्रेष्ठ **सुखम्** सुख **न** नहीं है, **तृष्णायाः** तृष्णा से **परः** बढ़कर **व्याधिः** रोग **न** नहीं है **च** और **दयापरः** दया से बढ़कर **धर्मः** धर्म **न** नहीं है।

भावार्थ—शान्ति के समान कोई तप नहीं है, सन्तोष से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है, तृष्णा से बढ़कर कोई रोग नहीं है और दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।

विमर्श—शान्ति के समान दूसरा तप नहीं है—

सात द्वीप नव खण्ड लौं तीनि लोक जग माँहि।
तुलसी शान्ति समान सुख और दूसरो नाँहि ॥

सन्तोष से बढ़कर सुख नहीं है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः सन्तोषः परं सुखम्।
तस्मात् सन्तोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥

—महा० वन० २।४६

धन की प्यास कभी बुझती नहीं है, अतः सन्तोष ही परम सुख है. ज्ञानी जन सन्तोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं।

सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किञ्चित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥

—महा० शा० २१।२

हे राजन्! मनुष्य के मन में सन्तोष होना स्वर्ग की प्राप्ति से भी बढ़कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है। सन्तोष यदि मन में भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाए तो उससे बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं है।

तृष्णा से बढ़कर कोई व्याधि नहीं है—

जीर्यन्ते जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्य्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्य्येते तृष्णैका तरुणायते॥

—पञ्चतन्त्र ५।१६

बूढ़ा होने पर बाल जीर्ण हो जाते हैं, पक जाते हैं, दाँत जीर्ण हो जाते हैं, टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण हो जाते हैं, दिखाई देना और सुनाई देना बन्द हो जाता है परन्तु अकेली तृष्णा निरन्तर तरुण =जवान होती जाती है।

दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये जब लग घट में प्राण॥

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुघा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम्॥१४॥

शब्दार्थ—**क्रोधः** क्रोध साक्षात् **वैवस्वतः राजा** यमराज है **तृष्णा** तृष्णा **वैतरणी** वैतरणी **नदी** नदी है। **विद्या** विद्या **कामदुघा** कामनाओं को पूर्ण करनेवाली **धेनुः** गौ है अर्थात् विद्या कामधेनु है और **सन्तोषः** सन्तोष **नन्दनम् वनम्** नन्दन वन, इन्द्र की वाटिका के समान है।

भावार्थ—क्रोध साक्षात् यमराज है, तृष्णा वैतरणी नदी है, विद्या कामधेनु है और सन्तोष नन्दन वन के समान है।

विमर्श—क्रोध यमराज है—

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते॥

—महा० वन० २९।४

क्रोधी मनुष्य पाप कर डालता है, क्रोधी गुरुजनों की भी हत्या कर सकता है, क्रोध में भरा हुआ मनुष्य अपनी कठोर वाणी द्वारा श्रेष्ठ पुरुषों का भी अपमान कर बैठता है।

तृष्णा वैतरणी नदी है। जैसे वैतरणी नदी को पार करना कठिन है, उसी प्रकार तृष्णा का छूटना भी कठिन है—

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥

—महोपनिषत् ५।८७

धीर, विद्वान्, कुलीन और महान् व्यक्ति भी तृष्णा से ऐसे बँध जाता है, जैसे सांकल द्वारा सिंह को बाँध दिया जाता है।

विद्या कामधेनु के समान है। विद्या से सभी कुछ मिल जाना है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

विद्या से मनुष्य में विनम्रता आती है, विनम्रता से योग्यता प्राप्त होती है, योग्यता से धन की प्राप्ति होती है, धन से धर्म होना है और धर्म से सुख मिलता है।

सन्तोष नन्दन वन है। इसके लिए ७।३ का विमर्श देखें।

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम् ।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम् ॥१५॥

शब्दार्थ—**गुणः** गुण मनुष्य के **रूपम्** रूप, सौन्दर्य को **भूषयते** शोभायमान बना देता है, **शीलम्** शील **कुलम्** कुल को **भूषयते** अलंकृत कर देता है, **सिद्धिः** सिद्धि, अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति, मुक्ति, बुद्धि **विद्याम्** विद्या को **भूषयते** भूषित करती है और **भोगः** भोग **धनम्** धन को **भूषयते** सुभूषित बना देता है अर्थात् भोग के बिना धन व्यर्थ है।

भावार्थ—गुणों से रूप सुन्दर लगता है, शील कुल को चार चाँद लगा देता है, सिद्धि से विद्या सुशोभित होती है और भोग धन को अलंकृत कर देता है।

विमर्श—गुण मनुष्य के रूप को शोभायमान बना देते हैं

पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते । रघुवंश ३।६२

गुण सर्वत्र अपना प्रभाव जमा देते हैं।

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा ।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥

मृच्छक० ४।२२

मनुष्य को सदा दया, दाक्षिण्य आदि गुणों की प्राप्ति में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि गुणी दरिद्र भी गुणहीन धनिकों से श्रेष्ठ होता है।

शील कुल को अलंकृत करता है। शील का अर्थ है --उत्तम स्वभाव और आचरण, नैतिकता, मज्जीवन, शुचिता, ईमानदारी, वैरत्याग, दान, दया आदि।

शीलं परं भूषणम्। --भर्तृहरि नीति० ७८

शील सबसे बड़ा आभूषण है।

जो मनुष्य शीलरूपी आभूषण से अलंकृत है, उसके घर को भी चार चाँद लग जाएँगे।

सिद्धि से विद्या सुशोभित होती है, सिद्धि का अर्थ है मुक्ति। विद्या वही उत्तम है जो आवागमन के चक्र से छुड़ाकर मुक्ति की प्राप्ति कराये। कहा भी है -**'सा विद्या या विमुक्तये'**। विद्या वही है जो मुक्ति प्राप्त करानेवाली हो।

सिद्धि का अर्थ बुद्धि भी होता है। बुद्धि से विद्या सुशोभित होती है। यदि मनुष्य के पास बुद्धि नहीं है तो **'साक्षरा विपरीतत्वे भवन्ति राक्षसा ध्रुवम्'**—'साक्षराः' विपरीत बुद्धि होने पर 'राक्षसाः' बन जाते हैं, अतः विद्या की सफलता बुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति में है।

अलौकिक शक्तियाँ, योग-सिद्धियाँ भी विद्या को सुभूषित करती हैं।

धन की शोभा दान और भोग में है, सञ्चय करने में नहीं। भामाशाह ने अपने जीवन की सारी कमाई महाराणा प्रताप के चरणों में अर्पित कर दी। ऐसा करके भामाशाह ने अपने देश की सेवा तो की ही, वह स्वयं अजर और अमर बन गया।

निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्।
असिद्धस्य हता विद्या अभोगेन हतं धनम् ॥१६॥

शब्दार्थ—**निर्गुणस्य** गुणहीन मनुष्य का **रूपम्** रूप, सुन्दरता **हतम्** मारी जाती है, व्यर्थ समझी जाती है, **दुःशीलस्य** शीलहीन का **कुलम्** कुल **हतम्** निन्दित होता है, **असिद्धस्य** अलौकिक शक्ति से रहित, बुद्धिहीन मनुष्य की **विद्या** विद्या **हता** व्यर्थ है और **अभोगेन** भोग के बिना **धनम्** धन **हतम्** व्यर्थ है।

भावार्थ—गुणहीन मनुष्य की सुन्दरता व्यर्थ होती है, शीलरहित का कुल निन्दित होता है, अलौकिक शक्तियों से रहित, मोक्ष की ओर न ले जानेवाली और बुद्धि से रहित विद्या व्यर्थ होती है तथा भोग के बिना धन व्यर्थ होता है।

विमर्श—भोग के बिना धन व्यर्थ है। भर्तृहरिजी कहते हैं—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

—नीति० ३९

दान देना, उपभोग करना, नष्ट हो जाना—धन की ये तीन गतियाँ हैं, जो न दान देता है और न भोग करता है, उसके धन की तीसरी गति होती है, अर्थात् उसका धन नष्ट हो जाता है।

शुचिर्भूमिगतं तोयं शुद्धा नारी पतिव्रता।
शुचिः क्षेमकरो राजा सन्तोषी ब्राह्मणः शुचिः ॥१७॥

शब्दार्थ—**भूमिगतम्** भूमि के भीतर गया हुआ **तोयम्** जल **शुचिः** शुद्ध होता है। **पतिव्रता** पतिव्रता **नारी** स्त्री **शुद्धा** पवित्र होती है। **क्षेमकरः** कल्याण करनेवाला **राजा** राजा **शुचिः** पवित्र माना जाता है और **सन्तोषी** सन्तुष्ट रहनेवाला **ब्राह्मणः** ब्राह्मण **शुचिः** पवित्र होता है।

भावार्थ—भूमि के भीतर प्रविष्ट हुआ जल, पतिव्रता नारी, कल्याण करनेवाला राजा और सन्तोषी ब्राह्मण—ये सब शुद्ध और पवित्र माने गये हैं।

विमर्श—भूमि के भीतर प्रविष्ट हुआ जल पवित्र होता है। वर्षा का अधिकांश जल तो बहकर नद और नदियों द्वारा समुद्र में चला जाता है परन्तु इस जल का कुछ अंश भूमि में प्रविष्ट हो जाता है। यही जल कुओं, बावड़ियों और तालाबों में भूमि के स्रोतों से आता रहता है। भूमि से छनकर आने के कारण इसे निस्यन्दित जल [Filtered water] कह सकते हैं, अतः भूमिगतजल शुद्ध होता है।

पतिव्रता नारी शुद्ध होती है—

पतिव्रता मैली भली गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै ज्यों रवि ससि की जोत ॥

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ॥१८॥

शब्दार्थ—**असन्तुष्टाः** सन्तोष-रहित **द्विजाः** ब्राह्मण **नष्टाः** नष्ट हो जाते हैं **च** और **सन्तुष्टाः** सन्तोषी **महीभृतः** राजा लोग नष्ट हो

जाते हैं। **सलज्जाः** लज्जाशील **गणिकाः** वेश्याएँ **नष्टाः** नष्ट हो जाती हैं **च** और **निर्लज्जाः** लज्जाहीन **कुलाङ्गनाः** कुलीन नारियाँ नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—असन्तोषी ब्राह्मण, सन्तोषी राजा, लज्जा करनेवाली वेश्याएँ और लज्जाहीन कुल-स्त्रियाँ—ये सब नष्ट हो जाते हैं।

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम्।
दुष्कुलीनोऽपि विद्वांश्च देवैरपि सुपूज्यते ॥१९॥

भावार्थ—विद्याहीनेन विद्या से रहित **विशालेन** विशाल, बड़े **कुलेन** कुल से **देहिनाम्** मनुष्यों को **किम्** क्या लाभ है? **दुष्कुलीनः** नीचकुल में पैदा होनेवाला **विद्वान्** विद्वान् **देवैः** विद्वानों द्वारा **अपि** भी **सुपूज्यते** खूब पूजा जाता है, अत्यधिक आदर और सत्कार पाता है।

भावार्थ—विद्याहीन बड़े कुल से मनुष्य को क्या लाभ है? नीच कुल में उत्पन्न होनेवाला विद्वान् भी देवों=विद्वानों के द्वारा अत्यन्त सम्मानित होता है।

विमर्श—विद्या का महत्त्व सर्वोपरि है। पौराणिकों के अनुसार शृङ्गी ऋषि मृगी से पैदा हुए, अगस्त्य कलश से [हमारी दृष्टि में सर्वथा असम्भव], व्यास धींवर की कन्या से और वसिष्ठ उर्वशी नामक गणिका से उत्पन्न हुए परन्तु अपनी विद्या के कारण ये सभी सुपूज्य बन गये।

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् गच्छति गौरवम्।
विद्यया लभ्यते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते ॥२०॥

शब्दार्थ—लोके संसार में **विद्वान्** विद्वान् ही **प्रशस्यते** प्रशंसित होता है **विद्वान्** विद्वान् ही **गौरवम्** आदर-सम्मान को **गच्छति** प्राप्त होता है, उसे ही यश और प्रशंसा मिलती है। **विद्यया** विद्या से **सर्वम्** धन-धान्य, मान, यश, गौरव, प्रतिष्ठा—सब-कुछ **लभ्यते** प्राप्त होता है, **विद्या** विद्या ही **सर्वत्र** सब स्थानों पर **पूज्यते** पूजित होती है।

भावार्थ—संसार में विद्वान् ही प्रशंसित होता है, विद्वान् ही सर्वत्र आदर पाता है। विद्या से धन-धान्य, मान-प्रतिष्ठा आदि सब-कुछ मिलता है। विद्या का सर्वत्र आदर होता है।

विमर्श—विद्या की महिमा महान् है। विद्या अमूल्य धन है

विद्या के सम धन नहीं जग में कहत सुजान।
विद्या ही से मनुज लघु होवे भूप समान॥

और भी—

सुख चाहे विद्या पढ़े विद्या है सुख हेतु।
भवसागर से तरन को विद्या है दृढ़ सेतु॥

मांसभक्षैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षरवर्जितैः।
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराऽऽक्रान्ता च मेदिनी॥२१॥

शब्दार्थ—**मांसभक्षैः** मांस-भक्षण करनेवाले **सुरापानैः** सुरा=मद्य-पान करनेवाले, शराबियों **मूर्खैः** मूर्खों **च** और **अक्षरवर्जितैः** निरक्षर भट्टाचार्य, काला अक्षर भैंस बराबर **पुरुषाकारैः** आकार, रंग-रूप में पुरुष के समान परन्तु वस्तुतः **पशुभिः** पशुओं से **मेदिनी** पृथिवी **भार+आक्रान्ता** पीड़ित **च** और दबी रहती है।

भावार्थ—मांस खानेवाले, मदिरा=शराब पीनेवाले, मूर्ख और निरक्षर भट्टाचार्य मनुष्यरूपी पशुओं के भार से पृथिवी पीड़ित और दबी रहती है।

विमर्श—मांसाहारी में दया नहीं होती, शराबी में सत्य नहीं होता तथा मूर्ख और निरक्षर मनुष्य न अपना कल्याण कर सकता है, न संसार का उपकार कर सकता है, अतः ये सब पृथिवी पर भाररूप ही हैं।

अन्नहीनो दहेद् राष्ट्रं मन्त्रहीनश्च ऋत्विजः।
यजमानं दानहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः॥२२॥

इति अष्टमोऽध्यायः॥८॥

शब्दार्थ—**अन्नहीनः** अन्न से रहित यज्ञ **राष्ट्रम्** राष्ट्र को **दहेत्** जला देता है **च** और **मन्त्रहीनः** मन्त्रहीन यज्ञ **ऋत्विजः** ऋत्विजों को भस्म कर देता है **दानहीनः** दानहीन यज्ञ **यजमानम्** यजमान का नाश कर देता है, अतः संसार में **यज्ञसमः** यज्ञ के समान और कोई **रिपुः** शत्रु **न+अस्ति** नहीं है।

भावार्थ—अन्नहीन यज्ञ राष्ट्र को, मन्त्रहीन यज्ञ ऋत्विजों [यज्ञ करानेवाले पुरोहितों, आचार्यों] को और दानहीन यज्ञ यजमान को भस्म कर देता है। संसार में यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है।

विमर्श—यज्ञ कामधेनु है, कल्पवृक्ष है परन्तु विधि-विधान से न करने पर यज्ञ शत्रु बन जाता है। महाराजा दशरथ ने कहा था—

विधिहीनस्य यज्ञस्य कर्ता सद्य विनश्यति।

—वा० रा० बाल० ८।१८

विधिहीन यज्ञ करनेवाला शीघ्र नष्ट हो जाता है।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं प्रचक्षते॥

—गीता १७।१३

जो शास्त्रविधि से रहित हो, जिसमें लोककल्याणार्थ अन्नदान न दिया गया हो, जिसमें वेदमन्त्रों का उच्चारण न किया गया हो, जिसमें यज्ञ करानेवालों को दक्षिणा न दी गई हो और अश्रद्धा से किया गया हो, ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

ऐसे यज्ञ लाभकारी नहीं हैं। विधि-विधान से किये हुए यज्ञ इस लोक में मनुष्य को धन-धान्य से सम्पन्न बनाते हैं और अन्त में मोक्ष में पहुँचते हैं।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
आठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमाऽऽर्जवं दया शौचं सत्यं पीयूषवद् भज ॥१॥

शब्दार्थ—**तात** हे भाई ! **चेत्** यदि तू **मुक्तिम्** मुक्ति **इच्छसि** चाहता है तो **विषयान्** विषयों को **विषवत्** विष के समान समझकर **त्यज** त्याग दे और **क्षमा** सहनशीलता, धैर्य, तितिक्षा, **आर्जवम्** सरलता, विनम्रता, ईमानदारी, निष्कपटता एवं उदारता, **दया** दया, **शौचम्** पवित्रता और **सत्यम्** सत्य का **पीयूषवत्** अमृत के समान **पिब** पान कर।

भावार्थ—हे भाई ! यदि तुम्हें मुक्ति की कामना है तो विषयों को विष के समान समझकर त्याग दो और क्षमा [सहिष्णुता, धैर्य, तितिक्षा] आर्जव [सरलता, विनम्रता, ईमानदारी, निष्कपटता, उदारता] दया, पवित्रता और सत्य का अमृत के समान पान करो।

विमर्श—श्लोक में मोक्ष-प्राप्ति के निम्न साधन बताये हैं—

१. विषयों का विष के समान त्याग करो, क्योंकि—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥

—अष्टावक्रगीता १५।२

विषयों के प्रति आसक्ति का नष्ट होना मोक्ष और विषयों के प्रति अभिरुचि [लगाव] होना बन्धन है। संक्षेप में यही विज्ञान का सार [तत्त्व] है, जैसी इच्छा हो वैसा करो।

कमनीय विषय विष से भी भयंकर हैं—

विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥

विष और विषयों में महान् अन्तर दिखाई देता है। विष तो खाने

पर ही मनुष्य को मारता है, परन्तु विषय स्मरणमात्र से ही मनुष्य का विनाश कर देते हैं।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

—चाणक्यनीतिशास्त्रम् ७२

इन्द्रियों का असंयम [विषयों का उद्दाम भोग] व्याधि-आदि असंख्य आपत्तियों और संकटों की प्राप्ति का राजमार्ग है और इन्द्रियों का जय स्वास्थ्यादि असंख्य सुखों की प्राप्ति का राजमार्ग है, जो तुम्हें पसन्द हो उसी पर गमन करो।

विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता दुःखी सदा को विषयानुरागी।
धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः ॥

—शंकराचार्य, प्रश्नोत्तरी १३

विष से भी अधिक विषाक्त क्या है? समस्त विषय-भोग। सदा दुःखी कौन है? जो संसार के भोगों में आसक्त है। धन्य कौन है? जो परोपकारी है। पूजनीय कौन है? कल्याणस्वरूप-परमात्मनिष्ठ महात्मा।

२. क्षमा=धैर्य, सहनशीलता, तितिक्षा। योगवासिष्ठ में भी शम=धैर्य को मोक्ष का द्वारपाल कहा गया है—

मोक्षद्वारे द्वारपालश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥

—यो० मुमु० ११।५९

मोक्षद्वार के चार द्वारपाल बताये गये हैं—शम [क्षमा, धैर्य] विचार, सन्तोष और साधुसंगति।

३. आर्जव—निष्कपटता, सरलता, विनम्रता, ईमानदारी, उदारता भी मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है।

४. दया—प्राणिमात्र पर दया करना भी मोक्ष-प्राप्ति का साधन है।

५. पवित्रता—बाहर और भीतर की पवित्रता भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

—मनु० ५।१०९

जल से शरीर की शुद्धि होती है, मन सत्य से शुद्ध होता है, ब्रह्म-

विद्या और तप से जीवात्मा की शुद्धि होती है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

६. सत्य भी मोक्ष-मार्ग का साधक है। कहा हैं—

सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्। —महा० उद्यो० ३३।४७

सत्य स्वर्ग=मोक्ष की सीढ़ी है।

किसी ने ठीक ही कहा है—

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है।

परस्परस्य मर्माणि ये भाषन्ते नराधमाः।
त एव विलयं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥२॥

शब्दार्थ—ये जो **नराधमाः** नीच मनुष्य **परस्परस्य** एक-दूसरे के **मर्माणि** मर्मों को विदीर्ण करनेवाले, अन्तरात्मा को दुःखदायक वचनों को **भाषन्ते** बोलते हैं ते वे एव निश्चय ही ऐसे **विलयम् यान्ति** नष्ट हो जाते हैं **वल्मीकोदरसर्पवत्** जैसे बाँबी में फँसकर साँप नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जो नीच पुरुष एक-दूसरे के प्रति अन्तरात्मा को दुःख-दायक, मर्मों को आहत [पीड़ित] करनेवाले वचन बोलते हैं, वे ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे बाँबी में फँसकर साँप मारा जाता है।

विमर्श—वाणी का घाव बहुत भयंकर होता है। विदुरजी कहते हैं—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

—विदुर० २।७८

बाणों से बींधा हुआ घाव फिर भर जाता है। कुल्हाड़े से काटा हुआ वन फिर अंकुरित हो जाता है परन्तु कटुवचन कहकर वाणी से किया गया हृदय का घाव कभी नहीं भरता।

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदि शयो हि सः ॥

—विदुर० २।७९

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणों को शरीर से निकाला

जा सकता है परन्तु कटुवचनरूपी बाण को नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि वह हृदय के भीतर धँस जाता है।

दूसरों को आहत करनेवाले कठोर और कड़वे वचन मत बोलो। अपनी वाणी को समझाओ—

हे जिह्वे कटुक-स्नेहे मधुरं किं न भाषसे।
मधुरं वद कल्याणि लोकोऽयं मधुरप्रियः॥

—चाणक्यसारसंग्रह २।११

हे कटु और मीठा बोलनेवाली जिह्वे! तू मीठा क्यों नहीं बोलती? हे कल्याणि! तू मधुर भाषण कर, क्योंकि संसार के लोग मधुरभाषी से प्रेम करते हैं।

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे
नाऽकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनाढ्यश्च नृपश्चिरायुः
धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥३॥

शब्दार्थ—ब्रह्मा ने **सुवर्णे** सोने में **गन्धः** सुगन्ध **इक्षुदण्डे** ईख में **फलम्** फल **खलु** निश्चय ही **चन्दनस्य** चन्दन के वृक्ष में **पुष्पम्** पुष्प **न+अकारि** नहीं लगाये **च** तथा **विद्वान्** विद्वान् को **धनाढ्यः** धन-सम्पन्न और **नृपः** राजा को **चिरायुः** दीर्घजीवी नहीं बनाया। इससे यह निश्चय होता है कि **पुरा** पूर्वकाल में **धातुः** विधाता, परमात्मा को **कः अपि** कोई भी **बुद्धिदः** बुद्धि देनेवाला **न+अभूत्** नहीं था।

भावार्थ—ब्रह्मा ने सोने में सुगन्ध नहीं डाली, ईख में फल नहीं लगाये, चन्दन के वृक्ष में फूल नहीं लगाये, विद्वान् को धनी और राजा को दीर्घजीवी नहीं बनाया, इससे ऐसा निश्चय होता है कि पूर्वकाल में कोई भी परमेश्वर को बुद्धि देनेवाला नहीं था।

विमर्श—परमात्मा पर लगाये गये ये सारे आरोप निराधार हैं। वेद में कहा है—

याथातथ्योऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

—यजु० ४०।८

परमेश्वर अनादि काल से अपने जैसी अनादि प्रजाओं के लिए अनादि प्रकृति से ठीक-ठीक पदार्थों का निर्माण करता है और विद्याओं [वेदों] का प्रकाश करता है। परमात्मा की सृष्टि-संरचना पूर्ण

वैज्ञानिक है। इसमें कोई कमी, दोष या त्रुटि नहीं है। लीजिए विचार कीजिए—

सोने में सुगन्ध का न होना ही ठीक है। यदि सोने में सुगन्ध होती तो पतियों के लिए समस्या खड़ी हो जाती। पतिदेव अपनी पत्नी के लिए पचास ग्राम का हार बनवाकर देते और वह दो-तीन मास में ही उड़ जाता, समाप्त हो जाता, क्योंकि जिस वस्तु में सुगन्ध होती है, वह उड़ती है, जैसे कपूर आदि। दूसरी बात—पत्नी ने नाक में लौंग पहन रखी है और रसोई में भोजन बना रही है। वह गन्ध सूँघने में मस्त है और उधर सब्जी जल गई। तीसरी बात—सोने में सुगन्ध होती तो चोरों की मौज हो जाती, सूँघकर तुरन्त पता लगा लेते कि सोना कहाँ है?

ईख में फल नहीं लगाया। ईख तो स्वयं ही मीठा है, उसमें फल की आवश्यकता नहीं और यदि उसमें फल लगाता तो चींटियाँ, पक्षी, पशु, बन्दर आदि खा जाते, मनुष्य को तो फल शायद ही मिलता।

चन्दन नीचे से ऊपर तक सारा ही सुगन्धियुक्त होता है, अतः उसमें पुष्प की आवश्यकता ही नहीं।

विद्वान् धनाढ्य होता ही नहीं, यह बात गलत है। इतिहास में अनेक विद्वानों का उल्लेख है, जो महा धनाढ्य थे। महकवि माघ महाधनी थे। रहीम भी धनी थे। आर्यजगत् में कृपारामजी [स्वामी दर्शनानन्दजी] अत्यन्त धनी थे। हाँ, विद्वान् के पास धन की बहुलता हो जाएगी, तब वह वेदप्रचार नहीं करेगा, वह भी व्यापार करेगा, अतः विद्वान् के लिए योगक्षेम योग्य धन ही पर्याप्त होता है।

'नृप=राजा को दीर्घजीवी नहीं बनाया'—यह कहना भी ठीक नहीं। श्रीराम, युधिष्ठिर आदि अनेक राजा चिरजीवी हुए। राजा अन्यायी हो और वह चिरजीवी हो जाए तो सारी प्रजा को पीस डालेगा, दुराचारी हो तो राष्ट्र में दुराचार प्रवृत्त हो जाएगा, अतः राजा का दीर्घजीवी न होना ही अच्छा है।

इस प्रकार परमात्मा पर लगाये हुए ये सारे आक्षेप निराधार हैं।

सर्वौषधीनाममृता प्रधाना
सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।

सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं
सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम् ॥४॥

शब्दार्थ—**सर्व+ओषधीनाम्** सब ओषधियों में **अमृता गुर्च**=गिलोय **प्रधाना** प्रमुख है। **सर्वेषु** सब **सौख्येषु** सुख उत्पन्न करनेवाले साधनों में **अशनम्** भोजन **प्राधनम्** प्रधान है। **सर्व+इन्द्रियाणाम्** सब ज्ञानेन्द्रियों में **नयनम्** नेत्र **प्रधानम्** श्रेष्ठ है और **सर्वेषु** सब **गात्रेषु** अङ्गों में **शिरः** शिर **प्रधानम्** सर्वश्रेष्ठ है।

भावार्थ—सब ओषधियों में गिलोय, सब सुखों में भोजन, सब ज्ञानेन्द्रियों में आँख और शरीर के सब अङ्गों में शिर सर्वश्रेष्ठ होता है।

विमर्श—अमृता=गिलोय रसायन है। यह सोम की प्रतिनिधि है। इसकी महिमा में कहा गया है—

मण्डूकपर्ण्यः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टी-मधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्पः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः॥
आयुप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शंखपुष्पी॥

—धनवन्तरि, रसायनाधिकार

प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्ममण्डूकी का रस पान करने से अथवा मुलहठी के चूर्ण को दूध के साथ सेवन करने से या गिलोय के स्वरस का पान करने से अथवा मूल और पुष्पसहित शंखपुष्पी के कल्क का सेवन करने से आयु बढ़ती है और शरीर के सारे रोग दूर होते हैं। बल और अग्नि बढ़ती है, स्वर में माधुर्य आता है तथा मेधा की वृद्धि होती है। शंखपुष्पी विशेष करके मेधा को बढ़ाती है।

अमृता से आँवला, हरड़, तुलसी आदि का भी ग्रहण होता है और ये भी श्रेष्ठ ओषधियाँ हैं।

सब सुखों में भोजन प्रधान है। भोजन के बिना जीवन-यात्रा नहीं चल सकती, अन्न मनुष्यों का जीवन है।

सब ज्ञानेन्द्रियों में आँख श्रेष्ठ है। आँख है तो जहान [संसार] है।

है जरूरत जिस तरह चिड़िया को पहले पाँख की।
इस तरह से आदमी को है जरूरत आँख की॥

जैसे आकाश में सूर्य सर्वश्रेष्ठ ज्योति मानी जाती है, वैसे ही मनीषी

लोग सब इन्द्रियों में नेत्र को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

शरीर के सब अङ्गों में शिर प्रधान है, क्योंकि —

१. सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिर में विद्यमान हैं।

२. योगशास्त्र के अनुसार सहस्रदलकमल भी शिर में ही है।

३. जैसे वृक्ष के पंचाङ्गों में मूल होता है, वैसे ही शरीर के षडङ्गों [शिर, धड़, दो हाथ और दो पाँव] में शिर सर्वश्रेष्ठ होता है।

दूतो न सञ्चरति खे न चलेच्च वार्ता
पूर्वं न जल्पितमिदं न च सङ्गमोऽस्ति।
व्योम्नि स्थितं रविशशिग्रहणं प्रशस्तं
जानाति यो द्विजवरः स कथं न विद्वान् ॥५॥

शब्दार्थ—**खे** आकाश में **दूतः** दूत **न** नहीं **सञ्चरति** जाता है **च** और **न** न **वार्ता** बातचीत **चलेत्** चल सकती है, हो सकती है **न** न **इदम्** यह बात **पूर्वम्** पहले से ही **जल्पितम्** किसी ने कह रखी है **च** और **न** न किसी से **सङ्गमः** संगठन, मेल-मिलाप **अस्ति** हो सकता है; ऐसी स्थिति में **यः** जो **द्विजवरः** ब्राह्मणश्रेष्ठ **व्योम्नि** आकाश में **स्थितम्** स्थित **रविशशिग्रहणम्** सूर्य तथा चन्द्रमा के ग्रहण को **प्रशस्तम्** स्पष्ट रूप से **जानाति** जानता है **सः** वह **कथम्** कैसे **विद्वान्** विद्वान् **न** नहीं है?

भावार्थ—आकाश में कोई दूत नहीं जा सकता, न वहाँ किसी से कोई वार्तालाप हो सकता है, न पहले से किसी ने कुछ बता ही रखा है और न वहाँ किसी से सङ्गम हो सकता है, फिर भी जो ब्राह्मणश्रेष्ठ आकाश में स्थित सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण को जान लेता है, वह विद्वान् क्यों नहीं है?

विमर्श—यह सत्य है आकाश में दूत आदि नहीं जा सकता परन्तु परमेश्वर इस ब्रह्माण्ड का नियामक और व्यवस्थापक है। ये जितने भी लोक और लोकान्तर हैं, ग्रह और उपग्रह हैं, इन सबकी चाल निश्चित है और इतनी सुनिश्चित है कि करोड़ों वर्षों में भी उनकी चाल में एक सैकण्ड का भी अन्तर नहीं आता। सूर्य-चन्द्र की गतियों के गणित से ब्राह्मण लोग यह जान लेते हैं कि सूर्य और चन्द्रग्रहण कब होंगे। गणित का विशेषज्ञ होने से उसके विद्वान् होने में क्या सन्देह हो सकता है?

विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधाऽऽर्तो भयकातरः।
भाण्डारी प्रतीहारी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत् ॥६॥

शब्दार्थ—**विद्यार्थी** विद्यार्थी **सेवकः** सेवक, **पान्थः** पथिक, **क्षुधा+आर्तः** भूख से पीड़ित **भयकातरः** भय से व्यग्र, **भाण्डारी** भण्डारी **च** और **प्रतीहारी** द्वारपाल—इन **सप्त** सात **सुप्तान्** सोये हुओं को **प्रबोधयेत्** जगा देना चाहिए।

भावार्थ—विद्यार्थी, सेवक, पथिक, भूख से पीड़ित, भय से व्यग्र, भण्डारी और द्वारपाल—ये सात यदि सोते हों तो इन्हें जगा देना चाहिए।

विमर्श—विद्यार्थी सोया रहेगा तो उसके विद्योपार्जन में बाधा आएगी। सेवक सोया रहेगा तो सेवाधर्म का पालन नहीं हो सकेगा। पथिक सोया रहेगा तो यथासमय अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकेगा। भूख से पीड़ित व्यक्ति सोया रहेगा तो शरीर में रोग उत्पन्न होंगे, क्योंकि क्षुधा के समय जठर में अम्लयुक्त पाचकरस निकलने लगते हैं और जठर में मन्थन कार्य आरम्भ हो जाता है। भय से व्यग्र मनुष्य निश्चिन्तता से सो नहीं सकेगा, नींद में भी उसे दुःस्वप्न ही आते रहेंगे। भण्डारी सोता रहा तो भण्डारगृह से चोरी हो सकती है और प्रतीहारी=द्वारपाल सोता रहा तो द्वार की रक्षा कौन करेगा, कोई भी व्यक्ति अन्दर प्रविष्ट हो सकता है, अतः उपर्युक्त सात व्यक्ति सोये हुए हों तो उन्हें जगा देना चाहिए।

अहिं नृपं च शार्दूलं किटिं च बालकं तथा।
परश्वानं च मूर्खं च सप्त सुप्तान् न बोधयेत् ॥७॥

शब्दार्थ—**अहिम्** साँप **च** और **नृपम्** राजा **शार्दूलम्** व्याघ्र, चीता **च** और **किटिम्** सूअर **तथा** तथा **बालकम्** बालक **च** और **परश्वानम्** दूसरे का कुत्ता **च** तथा **मूर्खम्** मूर्ख=इन **सप्त** सात **सुप्तान्** सोते हुओं को **न** नहीं **बोधयेत्** जगाना चाहिए।

भावार्थ—सर्प, राजा, व्याघ्र, सूअर, बालक, दूसरे का कुत्ता और मूर्ख—इस सात सोते हुओं को नहीं जगाना चाहिए।

विमर्श—उपर्युक्त सात को जगाने से अपनी ही हानि होगी। सर्प डस लेगा, राजा दण्ड प्रदान करेगा, व्याघ्र या चीता आक्रमण करके

मार डालेगा, बालक की निद्रा भङ्ग होने से वह व्यर्थ ही रोये और चिल्लाएगा, दूसरे के कुत्ते को जगाने से वह क्रुद्ध होकर काट लेगा और मूर्ख व्यर्थ का विवाद करेगा, अतः ये सात यदि सोते हों तो इन्हें कभी नहीं जगाना चाहिए।

अर्थाऽधीताश्च यैर्वेदास्तथा शूद्रान्नभोजिनाः।
ते द्विजाः किं करिष्यन्ति निर्विषा इव पन्नगाः ॥८॥

शब्दार्थ—**यैः** जिन ब्राह्मणों के द्वारा **वेदाः** वेद **अर्थ+अधीताः** धनोपार्जन के लिए पढ़े गये हैं, जिन्होंने धन-प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन किया है **तथा** और जो **शूद्रान्नभोजिनः** शूद्र=मूर्ख, पतित, शराबी-कबाबी नीचजनों का भोजन करते हैं **ते** वे **द्विजाः** ब्राह्मण **निर्विषाः** विषहीन **पन्नगाः** सर्पों के **इव** समान **किम्** क्या **करिष्यन्ति** कर सकते हैं ?

भावार्थ—जिन ब्राह्मणों ने धन-प्राप्ति के लिए वेदों का अध्ययन किया है और जो शूद्रों=पतितों, शराबी-कबाबी नीच मनुष्यों का अन्न खाते हैं, विषहीन ब्राह्मणों के समान वे ब्राह्मण क्या कर सकते हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते। उन्हें संसार में कोई यश और गौरव नहीं मिल सकता।

विमर्श—वेद को धन कमाने के लिए नहीं अपितु अपना धर्म, नहीं, नहीं परम धर्म समझकर पढ़ना चाहिए। व्याकरण-महाभाष्य में कहा है—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

—महा० पस्प०

ब्राह्मण को बिना [धन-प्राप्ति के] प्रयोजन के छह अङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करके उनके रहस्यों को जानना चाहिए।

सच्चा ब्राह्मण धनोपार्जन के लिए वेद नहीं पढ़ता—

रत्नावत्नसा कुलटाः समीक्ष्य
किमार्यनार्याः कुलटा भवन्ति ॥

क्या आभूषणों से भूषित वेश्याओं को देखकर सतीसाध्वी कुलीन-स्त्री वेश्या बन सकती है ? कदापि नहीं।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में ठीक ही लिखा है—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनाऽऽगमः ।
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ॥९॥

शब्दार्थ—यस्मिन् जिसके **रुष्टे** रुष्ट होने, क्रोध करने पर **भयम्** कोई भय **न+अस्ति** नहीं है और **न+एव** न ही **तुष्टे** सन्तुष्ट, प्रसन्न होने पर **धन+आगमः** धन की प्राप्ति की सम्भावना है, जो मनुष्य **निग्रहः** दण्ड देने में और **अनुग्रहः** कृपा करने में समर्थ **न+अस्ति** नहीं है **सः** वह **रुष्टः** क्रुद्ध होकर **किम्** क्या **करिष्यति** करेगा ?

भावार्थ—जिसके क्रुद्ध होने पर कोई भय नहीं है और प्रसन्न होने पर धन-प्राप्ति की आशा नहीं है, जो न दण्ड दे सकता है और न कृपा ही कर सकता है, वह रुष्ट होकर क्या बिगाड़ेगा ?

निर्विषेणाऽपि सर्पेण कर्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न चाप्यस्तु घटाटोपो भयङ्करः ॥१०॥

शब्दार्थ—निर्विषेण विषहीन **सर्पेण** सर्प के द्वारा **अपि** भी **महती** अपना बड़ा भारी **फणा** फन **कर्तव्या** फैलाना चाहिए, उसमें **विषम्** विष **अस्तु** हो **च+अपि** अथवा **न** न **अस्तु** हो **घटाटोपः** आडम्बर **भयङ्कर** भयंकर होता है।

भावार्थ—विषहीन साँप को भी अपना बड़ा फन फैलाना चाहिए, उसमें विष है या नहीं, इस बात को कौन जानता है, हाँ आडम्बर से दूसरे लोग भयभीत अवश्य हो जाते हैं।

प्रातर्द्यूतप्रसंगेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः ।
रात्रौ चौर्यप्रसंगेन कालो गच्छत्यधीमताम् ॥११॥

शब्दार्थ—अधीमताम् मूर्ख लोगों का **कालः** समय **प्रातः** प्रातःकाल **द्यूतप्रसंगेन** जुआ खेलने में **मध्याह्ने** दोपहर में **स्त्रीप्रसङ्गतः** स्त्री-सहवास में और **रात्रौ** रात्रि में **चौर्यप्रसंगेन** चोरी करने में **गच्छति** व्यतीत होता है।

भावार्थ—मूर्ख लोग प्रातःकाल की शुभवेला को जुआ खेलने में, मध्याह्न [दोपहर] को स्त्री-सहवास, भोग-विलास, आमोद-प्रमोद में और रात्रिकाल को चोरी करने आदि दुष्कर्मों में व्यतीत करते हैं।

विमर्श—अधिकांश पुस्तकों में '**गच्छत्यधीमताम्**' के स्थान पर '**गच्छति धीमताम्**' पाठ है। इस पाठ को लेकर अनुवादकों ने जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये हैं। खींचातानी करके ऐसा अर्थ किया गया है—"प्रातःकाल में जुआरियों की कथा अर्थात् महाभारत से, मध्याह्न में स्त्रीप्रसङ्ग अर्थात् रामायण से और रात्रि में चोरी की वार्ता भागवत की वार्ता से बुद्धिमानों का समय व्यतीत होता है।"

'**धीमताम्**'—पाठ के कारण यह सारी खींचातानी करनी पड़ी है। भागवत की तो रचना ही ग्यारहवीं शताब्दी में हुई है, फिर चाणक्य-नीति में भागवत की वार्ता का वर्णन कैसे हो सकता है?

लुडविग महोदय ने **गच्छत्यधीमताम्**- पाठ ही माना है। हमारे विचार में भी यही पाठ समीचीन है।

स्वहस्तग्रथिता माला स्वहस्तघृष्टचन्दनम्।
स्वहस्तलिखितं स्तोत्रं शक्रस्यापि श्रियं हरेत् ॥१२॥

शब्दार्थ—**स्वहस्त-ग्रथिता** अपने हाथ से गूँथी हुई **माला** माला **स्वहस्तघृष्ट-चन्दनम्** अपने हाथ से घिसा हुआ चन्दन और **स्वहस्त-लिखितम्** अपने हाथ से लिखा हुआ **स्तोत्रम्** स्तोत्र [स्तुतिगान]—ये कार्य **शक्रस्य** इन्द्र की **अपि** भी **श्रियम्** शोभा को, लक्ष्मी को **हरेत्** हर लेते हैं।

भावार्थ—अपने हाथ से गूँथी हुई माला, अपने हाथ से घिसा हुआ चन्दन और अपने हाथ से लिखा हुआ स्तोत्र—ये काम इन्द्र की भी शोभा और लक्ष्मी को हर लेते हैं, अर्थात् माला गूँथने आदि में परिश्रम उस लाभ से भी अधिक होता है, जो इनके धारण करने से होता है।

इक्षुदण्डास्तिलाः क्षुद्राः कान्ता हेम च मेदिनी।
चन्दनं दधि ताम्बूलं मर्दनं गुणवर्धनम् ॥१३॥

शब्दार्थ—**इक्षुदण्डाः** ईख, **तिलाः** तिल, **क्षुद्राः** गँवार, **कान्ता** स्त्री **हेम** स्वर्ण, **मेदिनी** भूमि, **चन्दनम्** चन्दन **दधि** दही **च** और **ताम्बूलम्** पान—इन सबका **मर्दनम्** मर्दन करना **गुणवर्धनम्** इनके गुणों को बढ़ानेवाला है।

भावार्थ—ईख, तिल, गँवार, स्त्री, स्वर्ण, भूमि, चन्दन, दही और

पान— इन सबका जितना मर्दन किया जाए, उतना ही इनके गुण बढ़ते हैं।

विमर्श—यहाँ मर्दन शब्द अनेकार्थवाची है। यह ईख और तिल में पेरने या पेलने के अर्थ में, गँवार में ताड़न के अर्थ में, स्त्री में कुचमर्दन के अर्थ में, सोने में कूटने के अर्थ में, भूमि में जोतने के अर्थ में, चन्दन में घर्षण के अर्थ में, दही में मन्थन के अर्थ में और पान में चर्वण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रत्येक द्रव्य के साथ जो अर्थ दिया गया है, वह जितना अधिक किया जाए उतना ही अधिक फल मिलता है। जैसे ईख और तिल को जितनी अधिक बार कोल्हू में पेला जाएगा, उतना ही अधिक रस और तेल निकलेगा। क्षुद्रजन=गँवार को जितनी ताड़ना दी जाएगी, उतनी ही अच्छी प्रकार से वह कार्य करेगा। मैथुन के समय कुचों का जितना अधिक मर्दन किया जाएगा, उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होगा। सोने को जितनी बार पीटा जाएगा, उतना ही उत्तम आभूषण बनेगा। भूमि को जितना जोता जाएगा उतनी ही अधिक उपज होगी। किसी ने ठीक ही कहा है—

मेंढ बाँध दस जोतन दे, दस मन बीघा मोसे ले।
बीज पड़े फल अच्छा देत, जितना गहरा जोते खेत॥

चन्दन को जितना घिसें उतना ही उसका गुण बढ़ता है, दही को जितना मथें उतना ही अधिक मक्खन निकलता है और पान को जितना चबाएँ उतना ही गुण बढ़ जाता है।

दरिद्रता धीरतया विराजते
कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते।
कदन्नता चोष्णतया विराजते
कुरूपता शीलतया विराजते ॥१४॥

इति नवमोऽध्यायः ॥९॥

शब्दार्थ—**दरिद्रता** दरिद्रता **धीरतया** धैर्य होने से **विराजते** कष्ट-दायक नहीं होती, **कुवस्त्रता** बुरा वस्त्र **शुभ्रतया** स्वच्छता से, निर्मल रखने से **विराजते** सुन्दर जान पड़ता है, **कदन्नता** कुभोजन **उष्णतया** गरम-गरम होने से **विराजते** रुचिकर प्रतीत होता है **च** और **कुरूपता**

कुरूप शीलतया सुशीलता आदि गुणों से विराजते लोगों की आँखों में नहीं खटकता ।

भावार्थ—दरिद्रता धैर्य होने से कष्टदायक नहीं होती, बुरा वस्त्र निर्मल रखने से सुन्दर लगता है। कुभोजन गरम-गरम होने से रुचिकर लगता है और कुरूप शील आदि गुणों से लोगों की आँखों में नहीं खटकता ।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
नवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।।९।।

अथ दशमोऽध्यायः

धनहीनो न हीनश्च धनिकः स सुनिश्चयः ।
विद्यारत्नेन यो हीनः स हीनः सर्ववस्तुषु ॥१॥

शब्दार्थ—**धनहीनः** धन से रहित मनुष्य **हीनः** दीन-हीन **न** नहीं है, यदि वह विद्याधन से युक्त है तो **सः** वह **सुनिश्चयः** निश्चय ही **धनिकः** धन-सम्पन्न है परन्तु **यः** जो मनुष्य **विद्यारत्नेन** विद्यारूपी रत्न से **हीनः** रहित है **सः** वह मनुष्य **सर्ववस्तुषु** सब वस्तुओं से **हीनः** हीन है ।

भावार्थ—जो मनुष्य धन से हीन है, वह दीन-हीन नहीं है, यदि वह विद्यारूपी धन से युक्त है तो वह निश्चय ही महाधनी है परन्तु जो मनुष्य विद्यारूपी रत्न से हीन है, वह सभी वस्तुओं से हीन है ।

विमर्श—विद्या ही सबसे बड़ा धन है—

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥

विद्या सब धनों में सर्वोत्तम धन है, क्योंकि इसे कोई चुरा नहीं सकता, यह अत्यन्त मूल्यवान् है और सदा अक्षय रहती है [व्यय करने पर भी कम नहीं होती] ।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
शास्त्रपूतं वदेद् वाक्य मनः पूतं समाचरेत् ॥२॥[1]

शब्दार्थ—**दृष्टिपूतम्** आँख से देखकर **पादम्** भूमि पर पाँव **न्यसेत्** रखे **वस्त्रपूतम्** वस्त्र से छानकर **जलम्** जल को **पिबेत्** पीये, **शास्त्रपूतम्** शास्त्र से शुद्ध करके, शास्त्रानुकूल **वाचम्** वाणी को **वदेत्** बोले और **मनः** मन से **पूतम्** सोच-समझकर जो पवित्र कार्य, श्रेष्ठ आचरण= व्यवहार हो उसे **समाचरेत्** अच्छी प्रकार करे ।

---

१. यह श्लोक तनिक-से पाठभेद में मनुस्मृति [६।४६] में उपलब्ध है ।

भावार्थ—मनुष्य आँख से अच्छी प्रकार देखकर पृथिवी पर पैर रखे; वस्त्र से छानकर जल पीये, शास्त्रों के अनुकूल हित, मित और कल्याणकारी वचन ही बोले तथा मन से सोच-विचार कर श्रेष्ठ और शुभ व्यवहार करे।

विमर्श--मार्ग में गढ़ा, ईंट, पत्थर, कृमि, सर्प, बिच्छू आदि जीव-जन्तु, अग्नि, मल-मूत्र, थूक, बाल, कूड़ा-कर्कट आदि गन्दी वस्तुएँ पड़ी होती हैं, इनके द्वारा स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है, अतः चलते समय मार्ग देखकर चलना चाहिए।

जल में छोटे-छोटे जीव-जन्तु तथा उनके अण्डे (Ova) और तिनके आदि होते हैं, अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से जल को स्वच्छ वस्त्र से छान-कर पीना चाहिए।

अनर्गल प्रलाप नहीं करना चाहिए। शास्त्रानुकूल हित, मित और कल्याणकारी वचन ही बोलने चाहिएँ।

मन से सम्यक् विचार करके श्रेष्ठ व्यवहार करना चाहिए। ईर्ष्या-द्वेषवश किसी को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। ऐसे कार्य करने चाहिएँ जिनसे सबका कल्याण हो।

सुखार्थी चेत् त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी च त्यजेत् सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ॥३॥[1]

शब्दार्थ--**चेत्** यदि **सुखार्थी** सुख की अभिलाषा हो तो मनुष्य को चाहिए कि वह **विद्याम्** विद्या को **त्यजेत्** त्याग दे, छोड़ दे। **च** और यदि **विद्यार्थी** विद्या-प्राप्ति की इच्छा हो तो **सुखम्** सुख को **त्यजेत्** त्याग दे, क्योंकि **सुखार्थिनः** सुख चाहनेवाले को **विद्या** विद्या की प्राप्ति **कुतः** कैसे हो सकती है और **विद्यार्थिनः** विद्यार्थी को, विद्याभिलाषी को **सुखम्** सुख **कुतः** कैसे मिल सकता है ?

भावार्थ—जिसे सुख की अभिलाषा हो, उसे विद्या-प्राप्ति की आशा छोड़ देनी चाहिए और जिसे विद्या-प्राप्ति की इच्छा हो उसे सुख को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि सुख चाहनेवाले को विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती और विद्यार्थी को सुख नहीं मिल सकता।

विमर्श--चाणक्यजी अन्यत्र लिखते हैं -

---

१. यह श्लोक कुछ पाठभेद से विदुरनीति [८।६] में उपलब्ध है।

सुखार्थी च त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी च त्यजेत् सुखम् ।
न विद्यासुखयोः सन्धिस्तेजस्तिमिरयोरिव ॥

—चाणक्यराजनीति० ३।२५

सुखाभिलाषी को विद्या-प्राप्ति की आशा छोड़ देनी चाहिए और विद्यार्थी को सुख-प्राप्ति की अभिलाषा छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि विद्या और सुख की सन्धि ऐसे ही असम्भव है, जैसे प्रकाश और अन्धकार का मेल।

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्वन्ति योषितः ।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न भक्षन्ति वायसाः ॥४॥

शब्दार्थ—**कवयः** कवि लोग **किम्** क्या **न** नहीं **पश्यन्ति** देखते हैं ? **योषितः** स्त्रियाँ **किम्** क्या **न** नहीं **कुर्वन्ति** कर सकती हैं ? **मद्यपाः** शराबी लोग शराब के नशे में **किम्** क्या **न** नहीं **जल्पन्ति** बकते हैं ? [अनाप-शनाप सभी कुछ बकते हैं।] और **वायसाः** कौए **किम्** क्या **न** नहीं **भक्षन्ति** खाते हैं ?

भावार्थ—कवि लोग क्या नहीं देखते ? स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकतीं ? शराबी क्या नहीं बकते और कौए क्या नहीं खाते ?

विमर्श—कवि लोग क्या नहीं देखते ? प्रसिद्ध उक्ति है—'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि'। ऐसी दिव्य दृष्टि होते हुए भी—**"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः।'** [कुमारसम्भवम् १।३] जहाँ बहुत-से गुण हों, वहाँ यदि एकाध अवगुण भी आ जाए तो उसका वैसे ही पता नहीं लगता जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलङ्क छिप जाता है।

इस वचन को लिखते समय कवि कालिदास ने क्या खाक देखा ? कुछ भी नहीं। एक कवि उसका उपहास करते हुए कहता है—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनं न दृष्टं कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणकोटिनाशी॥

जिस कवि ने यह कहा है कि 'जहाँ बहुत सारे गुण हों वहाँ एक दोष ऐसे छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलङ्क' उस कवि ने [कवि+नापितेन=नाई कवि ने] यह नहीं सोचा कि एक दरिद्रतारूपी दोष सारे गुणों को मिट्टी में मिला देता है।

स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकतीं ! माता निर्माता होती है, वह संसार

की काया पलट सकती है। माता चाहे तो वीर सन्तानों को जन्म दे सकती है—

माता के बनाये पुत्र कायर और कपूत होत।
माता के बनाये पुत्र वीर बन जात हैं॥

शराबी क्या नहीं बकते ? शराबी शराब के नशे में ऐसे चूर होते हैं कि उन्हें दीन और दुनिया [धर्म और संसार] का कोई ज्ञान नहीं रहता। वेद में कहा है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ —ऋ०

जैसे दिल खोलकर शराब पीनेवाले आपस में लड़ते हैं और जैसे वे नग्न होकर बड़बड़ाते हैं—वे दुष्टबुद्धि लोग होते हैं [अतः शराब नहीं पीनी चाहिए]।

कौआ क्या नहीं खाता—

कवलयति नरकनिकरं परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्क्षः।
यदतोऽस्तु मा स्मयस्ते स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते॥

—योगवासिष्ठ नि० उ० ११६।६४

कौआ कमल-तन्तुओं का त्याग करता है और नरक [नरक के समान गन्दे द्रव्यों] के ढेर का भक्षण करता है परन्तु इसमें तुम्हें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि जिसको जिसके सेवन का अभ्यास हो गया है, उसे वह घृणित, दुर्गन्धयुक्त और अस्वादु वस्तु भी स्वादु प्रतीत होती है।

रङ्कं करोति राजानं राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनं चैव निर्धनं धनिनं विधिः॥५॥

शब्दार्थ—यह बात सत्य है कि **विधिः** विधाता, परमेश्वर **रङ्कम्** कङ्गाल को **राजानम्** राजा **करोति** बना देता है **च** और **एव** ऐसे ही **राजानम्** राजा को **रङ्कम्** कङ्गाल बना डालता है। वह **धनिनम्** धनवान् को **निर्धनम्** निर्धन **च** और **एव** वैसे ही **निर्धनम्** धनहीन को **धनिनम्** धनवान् बना देता है।

भावार्थ—यह बात सत्य है कि परमेश्वर कङ्गाल को राजा, राजा को कङ्गाल, धनी को निर्धन और निर्धन को धनी बना देता है।

विमर्श—सूरदासजी के मुख से मानो इसी श्लोक का अनुवाद

प्रस्फुटित हो उठा है—

ताकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कुछ दरसाई।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै, रङ्क चले सिर छत्र धराई॥

परमात्मा क्या करता है ? वेद में कहा है—

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यन्निःश्रोणो भूत्॥ —ऋ० ८।७९।२

वह परमेश्वर नंगों को वस्त्र से ढकता है, जो रोगी है उसके सब रोगों की चिकित्सा करता है, जो अन्धा है, उसे देखने योग्य बना देता है और जो पंगु—लंगड़ा है, वह चलने लगता है।

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥
—यजु० ४।३१

वरणीय परमेश्वर ने वनों पर आकाश को फैलाया है, उसने घोड़ों में वेग को, गौओं में दूध को, हृदयों में ज्ञान और कर्म को, प्रजाओं में उत्साह-अग्नि को, द्युलोक में सूर्य को, बादलों में अमृतरूपी रस को और पर्वतों पर सोम ओषधि को स्थापित किया है।

लुब्धानां याचकः शत्रुर्मूर्खाणां बोधकः रिपुः।
जारस्त्रीणां पतिः शत्रुश्चोराणां चन्द्रमा रिपुः॥६॥

शब्दार्थ—**लुब्धानाम्** लोभी मनुष्यों का **शत्रुः** शत्रु **याचकः** याचक, माँगनेवाला होता है तथा **बोधकः** समझानेवाला, सदुपदेश देनेवाला **मूर्खाणाम्** मूर्खों का **रिपुः** वैरी होता है। **जारस्त्रीणाम्** व्यभिचारिणी स्त्रियों का **शत्रुः** शत्रु **पतिः** उनका पति होता है और **चोराणाम्** चोरों का **रिपुः** शत्रु **चन्द्रमा** चन्द्रमा होता है।

भावार्थ—माँगनेवाला लोभियों का शत्रु होता है। मूर्खों का शत्रु उनको सदुपदेश देनेवाला होता है। पति व्यभिचारिणी स्त्रियों का शत्रु होता है और चोरों का शत्रु चन्द्रमा होता है।

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चाऽपि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥७॥[1]

१. यह श्लोक तनिक-से पाठभेद से भर्तृहरि नीति० [१२] में भी उपलब्ध है।

शब्दार्थ—**येषाम्** जिन मनुष्यों के पास **न न विद्या** विद्या है **न न तपः** तप=द्वन्द्व-सहन करने की शक्ति है **न न दानम्** दानशीलता है **च** और **न न अपि** ही **शीलम्** दया, नम्रता आदि है **न न गुणः** शौर्य, धैर्य, पराक्रम आदि उत्तम गुण है **न न धर्मः** धर्मभावना और धर्माचरण है **ते** वे लोग **मर्त्यलोके** संसार में **भुवि** पृथिवी पर **भारभूताः** भाररूप **मृगाः** पशु ही हैं जो **मनुष्यरूपेण** मनुष्य के रूप में **चरन्ति** विचरते हैं।

भावार्थ—जिन मनुष्यों के पास न विद्या है, न तप है, न दानशीलता है, न शील है, न गुण है, न धर्म है, वे पृथिवी पर भाररूप पशु ही हैं, जो मनुष्य के रूप में विचरा करते हैं।

अन्तःसारविहीनानामुपदेशो न जायते ।
मलयाऽचलसंसर्गात् न वेणुश्चन्दनायते ॥८॥

शब्दार्थ—**अन्तःसारविहीनानाम्** भीतरी योग्यता से हीन, बुद्धिहीन, मलिन हृदयवाले मनुष्यों को **उपदेशः** उपदेश **न जायते** फलप्रद नहीं होता जैसे **मलयाचल-संसर्गात्** मलयाचल के संसर्ग से **वेणुः** बाँस **न-चन्दनायते** चन्दन नहीं होता।

भावार्थ—भीतरी योग्यता से हीन, मलिन-हृदयवाले मनुष्यों पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता, जैसे मलयागिरि से आनेवाली पवन के स्पर्श से भी बाँस चन्दन नहीं होता।

विमर्श—ऐसी किंवदन्ती है कि मलयाचल से आनेवाली हवा के स्पर्श से साधारण वृक्ष भी चन्दन बन जाते हैं परन्तु बाँस पोला [खोखला] होता है, अतः उसपर कोई प्रभाव नहीं होता, ऐसे ही किसी महात्मा का कितना ही उत्तम उपदेश हो, भीतरी योग्यता से शून्य, मलिन हृदयवाले मनुष्यों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥९॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिसके पास **स्वयम्** अपनी **प्रज्ञा** बुद्धि **न+अस्ति** नहीं है, **शास्त्रम्** वेदादि शास्त्र **तस्य** उसका **किम्** क्या **करोति** कल्याण कर सकता है, लाभ पहुँचा सकता है। ठीक ही है, **लोचनाभ्याम्** दोनों आँखों से **विहीनस्य** हीन, अन्धे मनुष्य को **दर्पणः** दर्पण, शीशा **किम्** क्या **करिष्यति** करेगा ?

भावार्थ—जो बुद्धिहीन है वेदादि शास्त्र भी उसका कोई कल्याण

नहीं कर सकते, जैसे कि आँखों से विहीन अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है। दर्पण अपनी चमक से उसकी आँखों का अन्धकार दूर नहीं कर सकता।

दुर्जनं सज्जनं कर्तुमुपायो न हि भूतले।
अपानं शतधा धौतं न श्रेष्ठमिन्द्रियं भवेत् ॥१०॥

शब्दार्थ—**दुर्जनम्** दुर्जन, दुष्ट मनुष्य को **सज्जनम्** सज्जन **कर्तुम्** करने, बनाने के लिए **भूतले** पृथिवी पर **हि** निश्चय ही **उपायः न** कोई उपाय नहीं है, जैसे **अपानम्** मलत्याग करनेवाली इन्द्रिय [गुदा] को **शतधा** सौ प्रकार से **धौतम्** धोने पर भी वह **श्रेष्ठम् इन्द्रियम्** श्रेष्ठ इन्द्रिय [मुख] **न भवेत्** नहीं बनती।

भावार्थ—ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे दुर्जन मनुष्य सज्जन बन सकते हों, क्योंकि गुदा को चाहे सैकड़ों प्रकार से और सैकड़ों बार धोया जाए फिर भी वह मुख नहीं बन सकती।

विमर्श—यह दृष्टान्त विषम है। यदि गुदा मुख नहीं बन सकती तो मुख भी गुदा नहीं बन सकता। रही दुर्जनों को सज्जन बनाने के उपाय की बात, ऐसा उपाय है सत्सङ्ग। तुलसीदासजी ने कहा है—

शठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस परसि कुधात सुहाई॥

—रामचरितमानस, बाल०

सत्सङ्ग से महामूर्ख कालिदास महाविद्वान् बन गया, रत्नाकर डाकू वाल्मीकि बन गया [यह वाल्मीकि रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि से भिन्न था]। शराबी, कबाबी और नास्तिक मुंशीराम परम आस्तिक स्वामी श्रद्धानन्द बन गये, वेश्यागामी अमींचन्द भक्त अमींचन्द बन गया।

[1]आत्मद्वेषाद् भवेन्मृत्युः परद्वेषाद् धनक्षयः।
राजद्वेषाद् भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात् कुलक्षयः ॥११॥

---

१. पाठभेद—आप्तद्वेषाद्—अर्थ होगा, श्रेष्ठ मनुष्य से द्वेष करने से।
आप्त किसे कहते हैं? महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में आप्त की निम्न परिभाषा दी है—
"जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में

शब्दार्थ—**आत्मद्वेषात्** अपनी आत्मा से द्वेष करने से मनुष्य की **मृत्युः** मृत्यु **भवेत्** हो जाती है **परद्वेषात्** दूसरे से द्वेष करने, शत्रु से विरोध करने से **धनक्षयः** धन का नाश हो जाता है, **राजद्वेषात्** राजा से द्वेष करने से अपना **नाशः** नाश **भवेत्** हो जाता है और **ब्रह्मद्वेषात्** ब्राह्मण से द्वेष करने से **कुलक्षयः** कुल का नाश हो जाता हैं।

भावार्थ—अपनी आत्मा से द्वेष करने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, दूसरे से अथवा शत्रु से द्वेष करने से धन का नाश होता है, राजा से द्वेष करने से स्वयं का नाश होता है और ब्राह्मण से द्वेष करने से कुल का नाश हो जाता है।

विमर्श—अपने आत्मा से द्वेष नहीं करना चाहिए—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

——गीता ६।५७

आत्मा से, अपने आत्मिक बल से अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए। कभी भी अपनी आत्मा को नीचे नहीं गिराना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभोजनम्।
तृणेषु शय्या शतजीर्णवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥१२॥

शब्दार्थ—जिस वन में **द्रुम-आलयः** वृक्ष ही घर है **पत्र-फल-अम्बु-भोजनम्** पत्ते और फलों का भोजन तथा नदी का जल पीकर ही निर्वाह करना होता है, **तृणेषु शय्या** घास पर सोना है, **शतजीर्ण-वल्कलम्**—सौ स्थानों से फटे हुए वल्कल वस्त्रों को पहनना है, ऐसे **व्याघ्र-गजेन्द्र-सेवितम्** बाघ और गजराजों से सेवित **वनम्** वन में रहना **वरम्** उत्तम है परन्तु **बन्धुमध्ये** अपने बन्धु-बान्धवों के बीच में **धनहीन-जीवनम्** धन से रहित जीवन **न** अच्छा नहीं है।

विद्यारूप सूर्य का प्रकाश करे, उसको आप्त कहते हैं।'

'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' में वे लिखते हैं—

'आप्त'—जो यथार्थ वक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को 'आप्त' कहता हूं।

भावार्थ—जिस वन में वृक्ष ही घर है, पत्ते और फलों का भोजन तथा नदी-जल पीकर ही निर्वाह करना है, घास पर ही सोना है, और सौ स्थानों से फटे हुए वल्कल वस्त्रों को पहनना है, ऐसे बाघ और गजराजों से भरे वन में रहना अच्छा है, परन्तु अपने बन्धु-बान्धवों के मध्य में धनहीन जीवन अच्छा नहीं है।

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या
वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ॥१३॥

शब्दार्थ—**विप्रः** ब्राह्मण **वृक्षः** वृक्ष है **च** और **सन्ध्या** सन्ध्या-उपासना, परमेश्वर की आराधना, ब्रह्मचिन्तन **तस्य** उस वृक्ष की **मूलम्** जड़ है, **वेदाः** ऋग्वेदादि चारों वेद उस वृक्ष की **शाखाः** शाखाएँ हैं **धर्म-कर्माणि** धर्म-कर्म उसके **पत्रम्** पत्ते हैं, **तस्मात्** इसलिए **मूलम्** जड़ की **यत्नतः** प्रयत्नपूर्वक **रक्षणीयम्** रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि **मूले** जड़ के **छिन्ने** कट जाने पर **शाखा** शाखा **एव** भी **न** नहीं रहेंगी और **न** न **पत्रम्** पत्ते ही रहेंगे।

भावार्थ—ब्राह्मणरूपी वृक्ष की जड़ सन्ध्या है, वेद उसकी शाखाएँ हैं, धर्मकर्म उसके पत्ते हैं, अतः प्रयत्नपूर्वक जड़ की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जड़ के कट जाने, नष्ट हो जाने पर शाखा और पत्ते भी नहीं रहते।

विमर्श—इस श्लोक में सन्ध्या के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक द्विज को सन्ध्या करनी चाहिए—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चैव जायते॥

—देवी भाग० ११।१६।७

जिसने सन्ध्या के रहस्य को नहीं जाना और जिसने जीवन में सन्ध्या-उपासना नहीं की, वह जीते-जी शूद्र हो जाता है और मरने के पश्चात् कुत्ता बनता है।

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्।
सर्वांस्तान्धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥

—महा० अनु० १०४।१६

जो द्विज प्रातः और सायं सन्ध्या नहीं करते, धार्मिक राजा उन सबसे शूद्रकर्म=सेवाकार्य कराए।

आज तो स्थिति यह है—

न सन्ध्यां सन्ध्यन्ते नियमितनमाजं न कुरुते।
न वा मौंजीबन्धं कलयति न वा सुन्नतविधिम्॥
न रोजां जानीते व्रतमपि हरेर्नैव कुरुते।
न काशी मक्का वा शिव शिव न हिन्दुर्न यवनः॥

जो न सन्ध्या करते हैं और न नमाज़ पढ़ते हैं, न यज्ञोपवीत पहनते हैं और न ही सुन्नत कराते हैं, न रोजा रखते हैं और न हरि का व्रत रखते हैं, न काशी की यात्रा करते हैं और न मक्का जाते हैं, शिव! शिव! ये आजकल के लोग न हिन्दू हैं और न मुसलमान।

किसी ने और भी कहा है—

कहाँ की पूजा नमाज कैसी कहाँ की गंगा कहाँ का जमजम।
डटा है होटल के दर पै हरइक हमें भी दे दो इक जाम साहब॥

माता च कमलादेवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥१४॥

शब्दार्थ—**कमलादेवी** लक्ष्मी जिसकी **माता** है **च** और **जनार्दनः देवः** सर्वव्यापक, आनन्दप्रद परमेश्वर जिसका **पिता** पालक-पोषक और रक्षक है **च** तथा **विष्णु-भक्ताः** परमात्मा के भक्त जिसके **बान्धवाः** बन्धु-बान्धव हैं, उसके लिए **भुवनत्रयम्** पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु—ये तीनों लोक **स्वदेशः** अपने ही देश के समान हैं।

भावार्थ—लक्ष्मी जिसकी माता है, सर्वव्यापक आनन्दप्रद परमेश्वर जिसका पिता है और परमेश्वर के भक्त जिसके बन्धु हैं ऐसे मनुष्य के लिए तीनों लोक अपने देश के समान ही हैं।

विमर्श—इसी भाव से मिलता-जुलता निम्न श्लोक भी है—

माता तु पृथिवी देवी पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाश्च जगत् सर्वं स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

पृथिवी जिसकी माता है, महेश्वर जिसका पिता है, और सारा जगत् जिसका बन्धु है, उसके लिए तीनों लोक स्वदेश के समान हैं।

एकवृक्षसमारूढा नाना वर्णाः विहङ्गमाः।
प्रभाते दिक्षु दशसु का तत्र परिदेवना॥१५॥

शब्दार्थ—**नाना वर्णाः** विविध रंग-रूपों के **विहङ्गमाः** पक्षी **एक-वृक्ष-समारूढ़ाः** एक वृक्ष पर बैठते हैं और **प्रभाते** प्रभातवेला में, प्रातः-काल **दशसु दिक्षु** दस दिशाओं में उड़ जाते हैं **तत्र** इस विषय में **का** क्या **परिदेवना** शोक !

भावार्थ—अनेक रंग और रूपोंवाले पक्षी सायंकाल एक वृक्ष पर आकर बैठते हैं और प्रातःकाल दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं, ऐसे ही बन्धु-बान्धव एक परिवार में मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं, इस विषय में शोक=रोना-धोना क्या ?

विमर्श—जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है, फिर शोक और दुःख कैसा ? श्रीराम भरतजी को उपदेश देते हुए कहते हैं—

सर्वे क्षयान्ता निचयः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।।

—वा० रा० अयो० १०५।१६

समस्त संग्रहों का अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है ।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ।।

—वही १०५।१७

जैसे पके हुए फलों को पतन के सिवा और कोई भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य को मृत्यु के सिवा और कोई भय नहीं है ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ।।
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ।।

—वही १०५।२६-२७

जैसे महासागर में दो काठ चलते-चलते एक-दूसरे से मिल जाते हैं और कुछ समय के पश्चात् पृथक् हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं, क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है ।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ।।१६।।

शब्दार्थ—**यस्य** जिसके पास **बुद्धिः** बुद्धि है **तस्य** उसके पास **बलम्** बल है **च** सचमुच **निर्बुद्धेः** बुद्धिहीन के पास **बलम्** बल **कुतः** कहाँ ? देखो, **वने** वन में **मदोन्मत्तः** मद से उन्मत्त **सिंहः** सिंह **शशकेन** बुद्धिमान् खरगोश के द्वारा **निपातितः** मारा गया ।

भावार्थ—जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है, बुद्धिहीन के पास बल कहाँ ? देखो, वन में मद से उन्मत्त सिंह भी बुद्धिमान् खरगोश के द्वारा मारा गया ।

विमर्श—खरगोश के द्वारा सिंह किस प्रकार मारा गया, इस विषय में 'पञ्चतन्त्र' में निम्न कथा दी हुई है—

किसी वन में भासुरक नामक एक सिंह रहता था, वह प्रतिदिन अनेक पशुओं को अपने खाने के लिए मारा करता था । अपना भीषण विनाश देखकर एक दिन सब पशु मिलकर सिंह के पास पहुँचे और बोले—"स्वामिन् ! आपकी तृप्ति तो प्रतिदिन एक मृग से हो सकती है, फिर प्रतिदिन इतने पशुओं को मारने से क्या लाभ ? आप हमारे साथ सन्धि कर लें । आज से घर बैठे आपके पास जातिक्रम से भक्षण के लिए प्रतिदिन एक पशु पहुँच जाया करेगा । ऐसा करने से आपकी जीविका बिना क्लेश के मिल जाएगी और हमारा विनाश बच जाएगा ।"

उनके वचन को सुनकर भासुरक बोला—"अहो ! तुमने ठीक कहा है । परन्तु यदि प्रतिदिन एक जीव मेरे पास नहीं आएगा तो मैं सबको मार डालूँगा ।" तब "ऐसा ही करेंगे" ऐसी प्रतिज्ञा करके सब जीव निर्भय होकर वन में विचरने लगे । उधर शर्त [सन्धि] के अनुसार प्रतिदिन एक जीव क्रम से सिंह के पास जाने लगा । जाति के क्रम से एक दिन एक खरगोश की बारी आई । सब पशुओं से प्रेरित होकर, इच्छा न होने पर भी वह धीरे-धीरे चला । मार्ग में सिंह को मारने का उपाय सोचते हुए वह समय टालकर, व्याकुल हृदय से जा रहा था । तभी उसे एक कुआँ दिखाई दिया । जब वह कुएँ पर चढ़ा तो उसमें अपनी परछाहीं देखी । तब उसने मन में सोचा—'मैं भासुरक को क्रुद्ध करके इस कूप में गिराऊँगा ।' तदनन्तर वह खरगोश जब थोड़ा-सा दिन शेष रहा, तब सिंह के समीप पहुँचा । उधर सिंह भूख से व्याकुल हो, क्रोध में भरा होंठ चाटता हुआ सोच रहा था—"अहो ! कल प्रातः मैं सारे वन को निर्जीव कर दूंगा ।" उसी समय खरगोश चुपके से उसके

सामने पहुँचा और प्रणाम करके उसके समक्ष खड़ा हो गया। सिंह उसे देखकर घुडकता हुआ बोला—"अरे नीच! एक तो तू इतना छोटा जीव, दूसरे समय विताकर आया है। इस अपराध से तुझे मारकर कल मैं सभी पशुओं का नाश करूँगा।" खरगोश विनयपूर्वक बोला—"स्वामिन्! इसमें न मेरा अपराध है और न अन्य जीवों का। मेरे देर से आने का कारण सुनिए—

"सब मृगों ने आज जातिक्रम से मेरा अति लघु कलेवर जानकर पाँच खरगोशों के साथ मुझे आपके पास भेजा। मैं आपके पास आ रहा था कि एक अन्य सिंह ने माँद से निकलकर कहा—'अरे! तुम कहाँ जाते हो?' मैंने कहा—'हम प्रतिज्ञानुसार स्वामी भासुरक के पास उनके भोजन के लिए जाते हैं।' उसने कहा—'यह वन तो मेरा है, यहाँ का राजा मैं हूँ। भासुरक तो चोर है। यदि वह सच्चा है तो यहाँ आकर मुझसे लड़े। जो जीतेगा, वही वन का राजा ठहरेगा। तुममें से चार यहीं रहो और एक जाकर उसे बुला लाये।' बस, मैं उसी की आज्ञा से आपके पास आया हूँ। यही मेरा देरी से आने का कारण है, अब आप जैसा चाहें वैसा करें।"

खरगोश की यह बात सुनकर सिंह बोला—"भद्र! यदि ऐसा है, तो तुम शीघ्र ही उस चोर सिंह को मुझे दिखाओ, अब मैं उसे मारकर ही भोजन करूँगा।" तब खरगोश आगे-आगे चल दिया। कुछ दूर जाकर उसने आते समय जो कुआँ देखा था, उसे दिखाकर सिंह से कहा—"स्वामिन्! ऐसा प्रतीत होता है कि आपको दूर से ही देखकर वह चोर सिंह अपने दुर्ग में घुस गया है, आइए, मैं दिखाऊँ।" सिंह ने कुएँ पर चढ़कर अन्दर झाँका तो कुएँ मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर सिंहनाद किया। उसकी प्रतिध्वनि से कुएँ से दुगुने जोर का शब्द गूँजा। इससे वह उसे शत्रु मानकर उसपर कूद पड़ा और मर गया। तब खरगोश भी प्रसन्न-मन हो, सब पशुओं को आनन्दित करता हुआ और उनसे प्रशंसित होकर सुख से उस वन में रहने लगा। इसी से कहा है—"जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है।"

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निर्मयेत्।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यदुपते लक्ष्मीपते केवलं
त्वत्पादाम्बुजसेवनेन सततं कालो मया नीयते ॥१७॥

शब्दार्थ—**मम** मुझे **जीवने** आजीविका की **का** क्या **चिन्ता** चिन्ता है **यदि** जबकि **हरिः** दुःखों को हरनेवाला परमेश्वर **विश्वम्भरः** विश्व का भरण-पोषण करनेवाला **गीयते** कहलाता है। **नो चेत्** यदि परमेश्वर विश्व का पालक-पोषक नहीं है तो **अर्भकजीवनाय** बालक के जीवन के लिए **जननीस्तन्यम्** माता के स्तन में दूध **कथम्** कैसे **निर्मयेत्** बना देता है। **यदुपते** हे मनुष्यों के स्वामिन्! **लक्ष्मीपते** हे विष्णो! [चराचर जगत् में व्यापक परमेश्वर!] **मुहुः मुहुः** बारम्वार **इति आलोच्य** ऐसा विचार कर **केवलम्** केवल **त्वत्** आपके **पादाम्बुजसेवनेन** चरण-कमलों की सेवा में **सततम्** सदा **मया** मेरा **कालः** काल **नीयते** व्यतीत होता है।

भावार्थ—जब परमेश्वर संसार का पालन करनेवाला कहलाता है, तब मुझे अपनी जीविका की क्या चिन्ता है। यदि परमेश्वर संसार का पालक-पोषक नहीं होता तो बच्चे के जीवन के लिए उसकी माता के स्तनों में दूध कैसे बना देता? बारम्बार ऐसा विचार कर हे प्रजापते! त्रिभुवन स्वामिन्! मैं आपके चरणकमलों की सेवा में सदा अपना समय व्यतीत करता हूँ।

विमर्श—'यदु' शब्द निघण्टु २।३ में मनुष्यनाम में पढ़ा गया है। अतः हमने यदुपति का अर्थ मनुष्यों का स्वामी अथवा प्रजापति किया है।

लक्ष्मीपति का अर्थ है विष्णु। तीनों लोकों में व्याप्त होने से परमेश्वर को विष्णु कहते हैं।

परमात्मा निराकार है। उपनिषदों में कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

—श्वेता० ३।१९

वह परमेश्वर बिना हाथों के झट पकड़ लेता है, बिना पाँवों के शीघ्र गति करता है। वह बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है। जानने योग्य जो कुछ भी है, उसे वह जानता है परन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं। उसी को आदिम महापुरुष कहते हैं।

तुलसीदास जी ने भी कहा है—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥

तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करणी। महिमा तासु जाइ किमि बरणी ॥

— तुलसी [मानस, बालकाण्ड]

जब परमात्मा के चरण ही नहीं हैं फिर उसके चरणकमलों की सेवा क्या है ? वेद में कहा है —**यस्य भूमिः प्रमा** [अथर्व० १०।४।३२] भूमि ही उस परमेश्वर के पैर हैं। भक्त भूमि=भूमिनिवासी भगवान् की प्रजाओं की सेवा में, सदा परोपकार में अपना समय व्यतीत करता है।

गीर्वाणवाणीषु विशिष्टबुद्धि-
स्तथापि भाषान्तरलोलुपोऽहम् ।
यथा सुराणाममृते स्थितेऽपि
स्वर्गाङ्गनानामधरासवे रुचिः ॥१८॥

शब्दार्थ—नीतिशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् चाणक्यजी कहते हैं—यद्यपि मैं **गीर्वाणवाणीषु** सुर=देवभाषा [संस्कृत भाषा] में **विशिष्ट-बुद्धिः** विशिष्ट बुद्धि रखता हूँ **तथा+अपि** फिर भी **अहम्** मैं **भाषान्तर-लोलुपः** दूसरी भाषाओं का भी लोभी हूँ। **यथा** जैसे **अमृते** अमृत के **स्थिते** विद्यमान होने पर **अपि** भी **सुराणाम्** देवताओं की **रुचिः** इच्छा **स्वर्गाङ्गनानाम्** स्वर्ग की स्त्रियों, अप्सराओं के **अधरासवे** अधर-आसव का पान करने में रहती है।

भावार्थ—चाणक्यजी कहते हैं—यद्यपि मैं संस्कृतभाषा में विशेष बुद्धि रखता हूँ तथापि मैं दूसरी भाषाओं का भी लोभी हूँ—जैसे अमृत का पान करने के पश्चात् भी देवताओं की इच्छा स्वर्ग की स्त्रियों [अप्सराओं] के अधर-आसव का पान करने में रहती है।

अन्नाद्दशगुणं पिष्टं पिष्टाद्दशगुणं पयः ।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद्दशगुणं घृतम् ॥१९॥

शब्दार्थ—**अन्नात्** अन्न से **दशगुणम्** दसगुना गुण **पिष्टम्** पिट्ठी में है अथवा **अन्नात्** चावल से दसगुना गुण गेहूँ आदि के आटे में है, **पिष्टात्** पिट्ठी या आटे से **दशगुणम्** दसगुनी शक्ति **पयः** दूध में है, **पयसः** दूध से **अष्टगुणम्** आठगुनी शक्ति **मांसम्** मांस में है और **मांसात्** मांस से **दशगुणम्** दसगुनी शक्ति **घृतम्** घी में है।

भावार्थ—चावल से दसगुनी शक्ति आटे में, आटे से दसगुनी शक्ति दूध में, दूध से आठगुनी शक्ति मांस में और मांस से दसगुनी शक्ति तथा पुष्टि घी में होती है।

विमर्श—चाणक्यजी यहाँ मांस खाने का विधान नहीं कर रहे हैं, वे तो वस्तुओं का गुण वर्णन कर रहे हैं। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक उन्नति के दृष्टिकोण से मांस नहीं खाना चाहिए। मांसाहार में महान् दोष है—

योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते॥

—हितो० १।६७

जो प्राणी जिस प्राणी का मांस खाता है, उन दोनों में अन्तर देखिए। एक [मांस खानेवाले] को क्षणभर के लिए तृप्ति की अनुभूति होती है, और दूसरा सदा के लिए अपने प्राणों को खो बैठता है।

शाकेन रोगा वर्धन्ते पयसा वर्धते तनुः।
घृतेन वर्धते वीर्यं मांसान्मांसं प्रवर्धते॥२०॥

इति दशमोऽध्यायः॥१०॥

शब्दार्थ—**शाकेन** साग से **रोगाः** रोग **वर्धन्ते** बढ़ते हैं, **पयसा** दूध से **तनुः** शरीर **वर्धते** बढ़ता है **घृतेन** घी से **वीर्यम्** वीर्य **वर्धते** बढ़ता है और **मांसात्** मांस से **मांसम्** मांस **प्रवर्धते** बढ़ता है।

भावार्थ—शाक से रोग बढ़ते हैं, दूध के सेवन से शरीर की पुष्टि और वृद्धि होती है, घृत के सेवन से वीर्य बढ़ता है और मांस के सेवन से मांस बढ़ता है।

विमर्श—शाक से रोग बढ़ते हैं। शाक-भाजी बहुत शीघ्र बासी होकर सड़ने लगती हैं। वे जीव-जन्तुओं और उनके अण्डों से व्याप्त रहती हैं, अपवित्र स्थानों में तथा मल-मूत्रादि युक्त पानी से उत्पन्न की जाती हैं, अतः उनके सेवन से अन्त्रज्वर, विसूचिका [हैजा], अतिसार [पेचिश] आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

दूध से शरीर बढ़ता है। वेद में कहा है—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।

—ऋ० ६।२८।६

हे गावो! तुम दुबले-पतले मनुष्य को हृष्ट-पुष्ट और मोटा-ताजा बना देती हो तथा शोभाहीन कुरूप को भी सौन्दर्यवान् और सुरूप बना

देती हो ।

घृत से वीर्य बढ़ता है । घृत बल और शक्ति प्रदाता है तथा आयु को बढ़ाता है ।

मांस से मांस बढ़ता है । मांस से शरीर के सब धातु बढ़ते हैं परन्तु मांस सबसे अधिक बढ़ता है ।

यहाँ भी चाणक्यजी ने मांस खाने का विधान नहीं किया है । मांस-भक्षण के सम्बन्ध में चाणक्यजी का स्पष्ट मत है—

चतुस्सागर-पर्यन्तां यो दद्यात्पृथिवीमिमाम् ।
न खादेच्चाऽपि यो मांसं तुल्यमेतद् विदुर्बुधाः ॥

—चाणक्यसार-संग्रह ३।६२

जो मनुष्य चारों समुद्रों सहित सम्पूर्ण पृथिवी का दान कर दे और जो मनुष्य मांस न खाये—उन दोनों का पुण्य बराबर है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ।

मांस-भक्षण से शरीर का मांस तो बढ़ेगा, परन्तु शक्ति क्षीण होगी, बुद्धि का दिवाला पिट जाएगा । मांस-भक्षक योगी तो तीन काल में भी नहीं बन सकता । मांसाहारी की आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती । मांस मनुष्य का भोजन नहीं है, मनुष्य के शरीर की रचना को देखकर यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ।

१. उत्पन्न होने के समय मांसाहारी प्राणियों की आँखें बन्द होती हैं परन्तु मनुष्य के बच्चे की आँखें खुली होती हैं ।

२. मांसाहारी प्राणियों को पसीना नहीं आता, इसके विपरीत शाकाहारी प्राणियों को पसीना आता है ।

३. मैथुन के समय मांसाहारी प्राणी जुड़ जाते हैं और उनका मैथुन घण्टों चलता है, परन्तु मनुष्य आदि जुड़ते नहीं हैं, दो-चार मिनट में ही मैथुनक्रिया समाप्त हो जाती है ।

४. मांसाहारी प्राणियों के दाँत नुकीले होते हैं तथा चीरने-फाड़ने के लिए पञ्जे भी होते हैं, शाकाहारी प्राणियों के दाँतों की बनावट वैसी नहीं होती ।

५. मांसाहारी जबान से चाटकर पानी पीते हैं, शाकाहारी घूंट से पानी पीते हैं ।

६. मांसाहारी प्राणियों की भोजन-नलिका साढ़े तीन फुट लम्बी होती है और शाकाहारी प्राणियों की बाईस फुट । यही कारण है कि

मांसाहारी प्राणी हड्डियों के चबा जाने पर भी नहीं मरते।

७. सभी प्राणी उत्पन्न होते ही उन वस्तुओं को जो उनका स्वाभाविक भोजन है, खाना आरम्भ कर देते हैं, जैसे—सिंह, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली आदि अत्यन्त छोटी अवस्था में ही मांस खाना आरम्भ कर देते हैं, परन्तु मनुष्य का बच्चा पहले दूध पीता है, फिर फल एवं अन्नादि खाता है। कोई भी बच्चा अपनी रुचि से मांस नहीं खाता।

८. सभी डाक्टर इस विषय में एक मत हैं कि मनुष्य जीवन की बनावट बन्दर से मिलती-जुलती है। बन्दर मांसाहारी प्राणी नहीं है, फिर मनुष्य भी मांसाहारी कैसे हो सकता है?

९. मांसाहारी प्राणियों को दूर से ही मांस की गन्ध आ जाती है और वे तुरन्त उसके पास पहुँच जाते हैं, जैसे चील, कुत्ता, बिल्ली आदि को मांस की गन्ध से तुरन्त पता लग जाता है कि वह कहाँ पड़ा है। मनुष्य को फल आदि की गन्ध तो आती है, कच्चे मांस की नहीं। मांस की दुर्गन्ध से तो वह मुँह फेर लेता है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
दसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१०॥

अथ एकादशोऽध्यायः

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता ।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः ॥१॥

शब्दार्थ—**दातृत्वम्** दानशीलता, **प्रियवक्तृत्वम्** मधुरभाषण **धीरत्वम्** शूरवीरता, और **उचितज्ञता** उचित-अनुचित का ज्ञान, पाण्डित्य—ये **अभ्यासेन** अभ्यास से **न** नहीं **लभ्यन्ते** प्राप्त होते, क्योंकि **चत्वारः** ये चारों **गुणाः** गुण **सहजाः** स्वाभाविक हैं ।

भावार्थ—दानशीलता, मधुरभाषण, शूरत्व और पाण्डित्य—ये चारों गुण स्वाभाविक होते हैं, इन्हें अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

विमर्श—निरन्तर अभ्यास से मनुष्य अनेक गुणों को प्राप्त कर सकता है परन्तु अभ्यास से सब-कुछ प्राप्त नहीं हो सकता । कुछ गुण ऐसे होते हैं जो स्वाभाविक होते हैं । उपर्युक्त श्लोक में ऐसे ही कुछ गुणों का वर्णन किया गया है । किसी अन्य विचारक ने भी कहा है—

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः ।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥

सैकड़ों में एकाध शूरवीर, सहस्रों में एकाध पण्डित तथा दससहस्रों में एकाध वक्ता जन्मता है और लाखों में कोई दानशील उत्पन्न होता है या नहीं, कहा नहीं जा सकता । पण्डित आदि गुणयुक्त पुरुष **जायते** उत्पन्न होता है [A genius is born] अभ्यास से नहीं बनाया जा सकता ।

किसी ने ठीक ही कहा है—

दानं प्रियवाक्यसहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥

मधुरवाणी के साथ दान, अहंकाररहित ज्ञान, क्षमायुक्त शौर्य और त्याग में नियुक्त धन—ये चारों श्रेष्ठगुण दुर्लभ हैं ।

आत्मवर्गं परित्यज्य परवर्गं समाश्रयेत् ।
स्वयमेव लयं याति यथा [1]राजाऽन्यधर्मतः ॥२॥

शब्दार्थ—जो मनुष्य **आत्मवर्गम्** अपने समुदाय, वर्ग को **परित्यज्य** छोड़कर **परवर्गम्** दूसरे के समुदाय, श्रेणी, वर्ग का **समाश्रयेत्** आश्रय लेता है वह **स्वयम्** अपने आप **एव** ही **लयम्** नाश को **याति** प्राप्त हो जाता है **यथा** जैसे **राजा** राजा **अन्यधर्मतः** दूसरे के धर्म का आश्रय लेने से नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—जो मनुष्य अपने समुदाय को छोड़कर दूसरे के समुदाय का आश्रय लेता है, वह स्वयं ही ऐसे नष्ट हो जाता है, जैसे कि दूसरे के धर्म का आश्रय लेने से राजा का नाश हो जाता है ।

विमर्श—बृहस्पति का मत भी ऐसा ही है—

यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥

—पञ्च० ४।२०

जिसके कुल, शील और आश्रय का ज्ञान न हो उसकी सङ्गति नहीं करनी चाहिए, ऐसा बृहस्पतिजी ने कहा है ।

हस्ती स्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपो प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिस्
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥३॥

शब्दार्थ—**हस्ती** गजराज, हाथी **स्थूलतनुः** स्थूल शरीर, लम्बे-चौड़े डील-डौलवाला होता है **सः** वह **च** भी **अंकुशवशः** अंकुश के वश में रहता है, **किम्** क्या **अंकुशः** अंकुश **हस्तिमात्रः** हाथी के समान डील-डौलवाला [हाथी के आकार के समान] होता है ? **दीपे** दीपक के **प्रज्वलिते** जल जाने पर **तमः** अन्धकार **प्रणश्यति** नष्ट हो जाता है **किम्** क्या **तमः** अन्धकार **दीपमात्रम्** दीपक के समान छोटा-सा होता है ? **वज्रेण हताः** वज्र के आघात से **गिरयः** पर्वत **अपि** भी **पतन्ति** गिर जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं **किम्** क्या **गिरिः** पर्वत **वज्रमात्रः** वज्र के

१. अधिकांश प्रतियों में पाठ है—राजात्यधर्मतः । यह पाठ होने पर अर्थ होगा—जैसे अत्यधिक अधर्म से राजा नष्ट हो जाता है ।

समान छोटा-सा होता है अथवा क्या वज्र पर्वत के समान बड़ा होता है ! वस्तुतः **यस्य** जिसका **तेजः** तेज **विराजते** चमकता है **सः** वही **बलवान्** बलवान् है **स्थूलेषु** मोटेपन [बाह्य आकार-प्रकार] का **कः** क्या **प्रत्ययः** विश्वास किया जा सकता है ?

भावार्थ—हाथी का शरीर स्थूल होता है, फिर भी वह अंकुश के वश में रहता है तो क्या अंकुश हाथी के समान लम्बा-चौड़ा होता है। दीपक के जलाने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तो क्या अन्धकार दीपक के समान छोटा-सा होता है। वज्र के आघात से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं तो क्या वज्र पर्वत के समान बड़ा होता है ? ऐसी बात नहीं है, जिसका तेज चमकता है, वही बलवान् है, मोटेपन पर क्या विश्वास किया जा सकता है ?

विमर्श—तेजस्वियों में तेज प्रकट होने के लिए शरीर के मोटा-ताजा होने की आवश्यकता नहीं है। एकहरा बदन होने पर भी वे अपना पराक्रम प्रकट कर सकते हैं। स्थूलता बल की नहीं अपितु निर्बलता की निशानी [चिह्न] है। वैद्यकशास्त्रों में स्थूलता की अपेक्षा कृशता को ही महत्त्व दिया गया है।

स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यम्। —चरक

स्थूल और कृश में कृश ही श्रेष्ठ है।

कृशः स्थूलात्तु पूजितः। —सुश्रुत

स्थूल की अपेक्षा कृश अधिक आदरणीय है।

कलौ दशसहस्रेषु हरिस्त्यजति मेदिनीम्।
तदर्धं जाह्नवीतोयं तदर्धं ग्रामदेवता ॥४॥

शब्दार्थ—**कलौ** कलियुग में **दशसहस्रेषु** दश हजार वर्ष व्यतीत होने पर **हरिः** विष्णु=सर्वव्यापक परमात्मा **मेदिनीम्** पृथिवी को **त्यजति** त्याग देते हैं **तत् अर्धम्** उसके आधे अर्थात् पाँच सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर **जाह्नवीतोयम्** गङ्गा का जल पृथिवी को छोड़ देता है और **तत् अर्धम्** उसके आधे अर्थात् ढाई सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर **ग्रामदेवता** ग्रामदेवता गाँव को त्याग देते हैं।

भावार्थ—कलियुग में दस सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर विष्णु पृथिवी को त्याग देते हैं, पाँच हजार वर्ष व्यतीत होने पर गङ्गाजल पृथिवी को और ढाई हजार वर्ष बीतने पर ग्रामदेवता ग्राम या पृथिवी को त्याग देते हैं।

विमर्श—यह श्लोक निश्चय ही प्रक्षिप्त है, क्योंकि चाणक्य जैसा बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी अनर्गल और बिना सिर-पैर की बात नहीं लिख सकता। विष्णु का अर्थ है चराचर जगत् में प्रविष्ट, अतः वह कभी भी, किसी भी काल में पृथिवी का त्याग नहीं कर सकता। ज्योतिष की काल गणना के अनुसार कलियुग के पाँच सहस्र वर्ष से भी अधिक बीत गये परन्तु गङ्गा ने पृथिवी का त्याग नहीं किया, वह निरन्तर उसी प्रकार बह रही है, जैसे पहले बह रही थी। जब ग्रामदेवता कोई होता ही नहीं, तब उसके ग्राम त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मूर्खतापूर्ण और प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

गृहाऽऽसक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता ॥५॥

शब्दार्थ—**गृह+आसक्तस्य** घर में आसक्ति, मोह, लगाव रखनेवाले को **विद्या** विद्या की प्राप्ति **नो** नहीं हो सकती। **मांसभोजिनः** मांस खानेवाले में **दया** दया **नो** नहीं होती। **द्रव्यलुब्धस्य** धन के लोभी में **सत्यम्** सत्यता **नो** नहीं होती और **स्त्रैणस्य** दुराचारी, व्यभिचारी, भोगविलासी मनुष्य में **पवित्रता न** पवित्रता नहीं हो सकती।

भावार्थ—घर में आसक्त विद्यार्थी को विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। मांसाहारी में दया, धन-लोभी में सत्यता और व्यभिचारी में पवित्रता नहीं होती।

विमर्श—गृह में आसक्त विद्यार्थी विद्या की प्राप्ति नहीं कर सकता। विद्यार्थी के लक्षणों में एक लक्षण गृहत्यागी होना भी है—

काकचेष्टो बको ध्यानी श्वाननिद्रस्तथैव च।
अल्पहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्च लक्षणः ॥

कौए जैसी चेष्टा, वक=बगुले के समान ध्यान-मग्न हो जानेवाला, कुत्ते के समान निद्रा लेनेवाला [तनिक-सी आहट पाते ही जग जाना और तुरन्त सो जाना], मित=थोड़ा आहार करनेवाला तथा विद्या-प्राप्ति के लिए घर को त्याग देनेवाला—सच्चे विद्यार्थी के ये पाँच लक्षण हैं।

मांसभोजी में दया नहीं होती। मांस प्राणियों की हिंसा करके प्राप्त होता है। जीवों की हत्या करने के कारण मांसाहारियों में दया का भाव नहीं होता। किसी ने ठीक ही कहा है—

न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वाऽपि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ।।

मांस न तो तृणों से उत्पन्न होता है, न लक्कड़ और पत्थरों से। मांस तो पशुओं को मारकर ही प्राप्त होता है, अतः मांस खाने में दोष है।

धनलोभी में सत्य नहीं होता। धनलोभी अधिकाधिक धन-प्राप्ति के लिए छल-प्रपञ्च करेगा, असत्य बोलेगा।

व्यभिचारी में पवित्रता नहीं होती। व्यभिचारी कुल, शील, रंग, रूप आदि कुछ नहीं देखता।

उपर्युक्त श्लोक से मिलता-जुलता एक अन्य श्लोक देखिए—

मद्यपस्य कुतः सत्यं दया मांसाशिनः कुतः।
कामिनश्च कुतो विद्या निर्धनस्य कुतः सुखम् ।।

—जिनधर्मविवेक

शराबी में सत्य, मांसाहारी में दया, कामार्त्त में विद्या और निर्धन में सुख कहाँ ?

न दुर्जनः साधुदशामुपैति
बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन
न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ।।६।।

शब्दार्थ—यह सत्य है कि **बहुप्रकारैः** अनेक प्रकार से **शिक्ष्यमाणः** समझाये और सिखाये जाने पर **अपि** भी **दुर्जनः** दुष्ट मनुष्य **साधुदशाम्** उत्तम अवस्था, सज्जनता को **न उपैति** प्राप्त नहीं होता। ठीक ही है, **निम्बवृक्षः** नीम का वृक्ष **पयसा** दूध और **घृतेन** घी से **आमूलसिक्तः** जड़ से सींचे जाने पर भी **मधुरत्वम्** मधुरता, मिठास को **न एति** प्राप्त नहीं होता, मीठा नहीं हो पाता।

भावार्थ—यह ध्रुव सत्य है कि अनेक प्रकार से समझाने और सिखाने पर भी दुष्ट मनुष्य सज्जन नहीं बन सकता, जैसे जड़सहित दूध और घी से सींचे जाने पर भी नीम का वृक्ष मीठा नहीं होता।

विमर्श—स्वभाव का बदलना कठिन है—

मधुना सिञ्चयेन्निम्बं निम्बः किं मधुरायते।
जातिस्वभावदोषोऽयं कटुकत्वं न मुञ्चति ।।

नीम की जड़ को मधु से सींचने पर भी क्या नीम मीठा हो सकता है? कदापि नहीं। कड़वापन उसका जातिस्वभाव दोष है, अतः वह उसे नहीं छोड़ सकता।

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः॥

—अरुणदत्त

जो कुल्हाड़े से नीम को काटता है, जो मधु और घृत से उसे सींचता है और जो गन्धमाला आदि से उसकी पूजा करता है—उन सबके लिए वह कड़वा ही होता है।

आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु कः।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत्॥

—वा० रा० अयो० ३५।१६

कौन बुद्धिमान् आम को कुल्हाड़े से काटकर उसके स्थान पर नीम की सेवा करेगा? जो आम के स्थान पर नीम को दूध से सींचता है, उसके लिए भी वह नीम मीठा फल देनेवाला नहीं हो सकता।

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥

—वा० रा० युद्ध० ३६।११

रावण माल्यवान् से कहता है—"मैं बीच में से दो टुकड़े हो जाऊँगा परन्तु किसी के सामने झुकूँगा नहीं, यह मेरा स्वाभाविक दोष है और स्वभाव अपरिवर्तनशील होता है।"

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम्॥

—पंचतन्त्र १।२८०

उपदेश से कोई किसी के स्वभाव को नहीं बदल सकता। भलीभाँति खौलाया हुआ भी पानी पुनः शीतल हो जाता है।

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि।
न शुध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च सत्॥७॥

शब्दार्थ—जिसका **अन्तर्गतमलः** अन्तःकरण मल=पाप-वासनाओं से भरा है, वह **दुष्टः** दुष्ट है, ऐसा मनुष्य **तीर्थस्नानशतैः** सैकड़ों बार तीर्थस्नान करने पर **अपि** भी **न शुध्यति** पवित्र नहीं होता, जैसे **सुरायाः** मदिरा, शराब का **भाण्डम्** पात्र **दाहितम्** जलाया जाने पर **च** भी **सत्**

शुद्ध, पवित्र नहीं होता।

भावार्थ—जिसका अन्तःकरण अपवित्र है, ऐसा दुष्ट मनुष्य सैकड़ों बार तीर्थ-स्नान करने पर भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का पात्र जलाया भी जाए तो भी शुद्ध नहीं होता।

विमर्श—तीर्थों में स्नान करने से अन्तःकरण पवित्र नहीं होता—

नित्यकर्मपरित्यागान्मार्गे संसर्गदोषतः।
व्यर्थं तीर्थाधिगमनं पापमेवाऽवशिष्यते॥
क्षालयन्ति हि तीर्थानि सर्वथा देहजं मलम्।
मानसं क्षालितुं तानि न समर्थानि वै नृप॥
शक्तानि यदि चेत्तानि गङ्गातीरनिवासिनः।
मुनयो द्रोहसंयुक्ताः कथं स्युर्भावितेश्वराः॥

—देवीभा० ६।१२।२२-२४

नित्यकर्मों के छूट जाने से और मार्ग के संसर्गदोष के कारण तीर्थों में जाना व्यर्थ ही है, तीर्थों में धक्के खाने से पाप ही होता है। गङ्गा आदि तीर्थों में स्नान करने से शरीर का मल ही धुलता है। हे राजन्! ये जलमय तीर्थ मानसिक दोषों को धोने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि इन जलमय तीर्थों में चित्त को शुद्ध करने की क्षमता होती तो गङ्गा के किनारे पर रहनेवाले वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि मुनियों में द्रोह क्यों रहता?

सच्चे तीर्थ निम्न हैं—

सत्यतीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
ज्ञानतीर्थं तपस्तीर्थं कथितं तीर्थसप्तकम्।
सर्वभूतदयातीर्थे विशुद्धिर्मनसो भवेत्॥
न तोयपूतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनोगतम्॥

—स्कन्द० वैष्णव० अयोध्या० १०।४६-४८

सत्य-भाषण तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियों को वश में रखना [जितेन्द्रियता] तीर्थ है, सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ है, कोमलता भी तीर्थ है, ज्ञान तीर्थ है, तप तीर्थ है--ये सात तीर्थ बताये गये हैं। सब प्राणियों पर दया करना रूपी तीर्थ में स्नान करने से मन पवित्र हो जाता है। पानी में शरीर को डुबा लेने से स्नान नहीं हो जाता,

वस्तुतः उसी मनुष्य ने स्नान किया है, जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तीर्थ की परिभाषा इस प्रकार की है—

वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य-अतिथि-माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभगुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से 'तीर्थ' हैं।

और जो जल-स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते, क्योंकि 'जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि'—मनुष्य जिन करके [जिनके द्वारा] दुःखों से तरें उनका नाम तीर्थ है। जल-स्थल तारनेवाले नहीं किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं प्रत्युत् नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है, क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

—सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं
स तं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम् ।
यथा किराती करिकुम्भजाता
मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः ॥८॥[1]

शब्दार्थ—**यः** जो **यस्य** जिसके **गुणप्रकर्षम्** गुणों के गौरव को, गुणों की श्रेष्ठता को **न** नहीं **वेत्ति** जानता, **सः** वह **सदा** सदा **तम्** उसकी **निन्दति** निन्दा करता है **न+अत्र, चित्रम्** यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। **यथा** उदाहरण के रूप में **किराती** भीलनी **करिकुम्भजाताः** हाथी के मस्तक से उत्पन्न होनेवाले **मुक्ताः** मोतियों को **परित्यज्य** छोड़कर **गुञ्जाः** घुंघची की माला को **बिभर्ति** धारण करती है।

भावार्थ—'जो जिसके गुणों की श्रेष्ठता को नहीं जानता, वह सदा उसकी निन्दा करता है'—यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है।

---

१. यह श्लोक कुछ पाठभेद से 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास में उद्धृत है।

देखो न, भीलनी हाथी के मस्तक से उत्पन्न होनेवाले मोतियों को छोड़कर घुँघची की माला को धारण करती है।

विमर्श—मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। यह जीवन पुरुषार्थ-चतुष्टय [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] की सिद्धि के लिए प्राप्त हुआ है। विद्वान् मनुष्य धार्मिक सत्पुरुषों का सङ्गी, योगी, पुरुषार्थी और जितेन्द्रिय होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर इस जन्म और परलोक में सदा आनन्द में रहता है। जो मूर्ख हैं, वे इस अमूल्य मानव जीवन को विषय-वासनाओं में नष्ट कर देते हैं।

यस्तु संवत्सरं पूर्णं नित्यं मौनेन भुञ्जति।
युगकोटिसहस्रं तु स्वर्गलोके महीयते ॥९॥

शब्दार्थ—**यः** जो मनुष्य **तु** तो **संवत्सरम् पूर्णम्** पूरे एक वर्ष तक **नित्यम्** सदा **मौनेन** मौन होकर, चुपचाप, विना बोले हुए **भुञ्जति** भोजन करता है, वह **तु** निःसन्देह **युगकोटिसहस्रम्** एक सहस्र करोड़ युगों तक **स्वर्गलोके** स्वर्गलोक में **महीयते** गौरव, आदर, मान पाता है।

भावार्थ—जो मनुष्य एक वर्ष तक सदा मौन होकर भोजन करता है, वह निःसन्देह एक सहस करोड़ युगों तक स्वर्गलोक में पूजित और सम्मानित होता है।

विमर्श—यह श्लोक निश्चय ही प्रक्षिप्त है। चाणक्य जैसा नीतिमान्, विद्वान् और बुद्धिमान् ऐसी अनर्गल बात नहीं लिख सकता। यदि केवल एक वर्ष तक मौन रहकर भोजन करने से एक सहस्र करोड़ युगों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, तब यम-नियम, जप-तप, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि की क्या आवश्यकता है?

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादं शृङ्गारकौतुके।
अतिनिद्राऽतिसेवे च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत् ॥१०॥

शब्दार्थ—**कामम्** कामुकता, विषयभोग की इच्छा **क्रोधम्** क्रोध, **तथा** और **लोभम्** लालसा, लोलुपता, बिना परिश्रम पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, **स्वादम्** स्वादु पदार्थों को खाने की इच्छा **शृङ्गार-कौतुके** फैशनपरस्ती, खेल-तमाशे, मन-बहलाव के लिए ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलना **च** **अतिनिद्रा+अतिसेवे** बहुत अधिक सोना तथा अत्यधिक सेवा करना, चापलूसी करना—इन **अष्ट** आठ बातों को **विद्यार्थी** विद्यार्थी **हि** निश्चय ही **वर्जयेत्** छोड़ दे, त्याग दे।

भावार्थ—विद्यार्थी को चाहिए कि वह काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, शृङ्गार, खेल-तमाशे, बहुत अधिक सोना और अत्यधिक सेवा करना—इन आठ बातों को त्याग दे।

विमर्श—काम, क्रोध और लोभ—ये विद्याध्ययन के विघ्न हैं। गीता में इन्हें नरक=दुःख और पतन का द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

—गीता १६।२१

काम, क्रोध और लोभ—ये नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं और आत्मा को नष्ट करनेवाले हैं, इसलिए इन तीनों को छोड़ देना चाहिए।

लोभ के सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥

—योगवासिष्ठ

यशस्वियों के निर्मल यश को और गुणवानों के प्रशंसनीय गुणों को तनिक-सा लोभ वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे श्वित्र=कुष्ठ का छोटा-सा धब्बा रूपवानों के प्रिय रूप को नष्ट कर देता है।

स्वाद—जिसे चस्का लगा, उसकी पढ़ने की रुचि भी गई।

शृंगार—फैशनपरस्त और सम्भोग करने का इच्छुक विद्यार्थी विद्या की प्राप्ति नहीं कर सकता।

कौतुक—खेल-तमाशे, ताश, चौपड़, शतरंज में समय नष्ट करने-वाला विद्यार्थी विद्या-अध्ययन नहीं कर सकता।

अत्यधिक सोना और अति सेवा भी विद्या अध्ययन में बाधक हैं, अतः विद्यार्थी को इन आठ दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए।

अकृष्टफलमूलेन वनवासरतः सदा।
कुरुतेऽहरहः श्राद्धमृषिर्विप्रः स उच्यते ॥११॥

शब्दार्थ—जो **अकृष्टफलमूलेन** बिना जोती हुई भूमि से उत्पन्न फल तथा कन्दमूल आदि खाकर जीवन का निर्वाह करता है और **सदा** सदा **वनवासरतः** वन में वसने में ही अनुराग रखता है **अहः अहः** प्रति-दिन **श्राद्धम्** श्राद्ध **कुरुते** करता है, **सः** वह **विप्रः** ब्राह्मण **ऋषिः** ऋषि **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—जो बिना जोति हुई भूमि से उत्पन्न फल और कन्दमूल खाकर अपना जीवन-यापन करता है, जो सदा वनवास में ही अनुराग रखता है और प्रतिदिन श्राद्ध करता है, ऐसा ब्राह्मण 'ऋषि' कहलाता है।

विमर्श—प्रतिदिन श्राद्ध—यहाँ पौराणिकों के मृतक श्राद्ध की गन्ध भी नहीं है। पौराणिकों का श्राद्ध तो वर्ष में पन्द्रह दिन होता है, जो मृतकों को पहुँचता भी नहीं है। यहाँ तो प्रतिदिन श्राद्ध करने का विधान है।

श्राद्ध का अर्थ है **श्रद्धया यत्करोति तत् श्राद्धम्**—जो कार्य श्रद्धापूर्वक किया जाए उसे श्राद्ध कहते हैं।

जिन कन्दमूल, फलों से वन में रहनेवाला ब्राह्मण स्वयं निर्वाह करे, उन्हीं से पञ्चमहायज्ञों [ब्रह्मयज्ञ=सन्ध्योपासना तथा वेदाध्ययन, देवयज्ञ=अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ] का अनुष्ठान करना ही वस्तुतः श्राद्ध है।

एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा।
ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते॥१२॥

शब्दार्थ—जो **एक+आहारेण** एक समय के भोजन से **सन्तुष्टः** सन्तुष्ट होकर **सदा** सदा **षट्कर्म-निरतः** छह कर्मों में तत्पर रहनेवाला **च** और **ऋतुकाल+अभिगामी** ऋतुकाल में ही स्त्री का सङ्ग करनेवाला हो **सः** वह **विप्रः** ब्राह्मण **द्विजः** द्विज **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—एक समय के भोजन से ही सन्तुष्ट रहकर अध्ययन-अध्यापन आदि छह कर्मों में तत्पर रहनेवाले और ऋतुकाल में स्त्री के साथ सहवास करनेवाले को 'द्विज' कहते हैं।

विमर्श—ब्राह्मण के छह कर्म निम्न हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

—मनु० १।८८

वेदों का अध्यापन और अध्ययन, यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना—ये छह कर्म ब्राह्मणों के लिए हैं।

ऋतुकालगामी होना—स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल सोलह रात्रि का है। उनमें से प्रथम चार रात्रि अर्थात् रजोदर्शन से लेकर चार दिन निन्दित हैं, इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महा-

रोगकारक है। ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है। शेष दश रात्रियाँ ऋतु-दान में श्रेष्ठ हैं। जो पूर्वोक्त छह रात्रियों को छोड़कर केवल सन्तान की प्राप्ति के लिए शेष दस रात्रियों में से किसी एक में अपनी स्त्री के साथ सहवास करता है, वह ऋतुकालगामी कहलाता है, और वह गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी ही होता है।

लौकिके कर्मणि रतः पशुनां परिपालकः।
वाणिज्यकृषिकर्ता यः स विप्रो वैश्य उच्यते ॥१३॥

शब्दार्थ--**यः** जो **लौकिके** सांसारिक **कर्मणि** कर्म में **रतः** लीन हो **पशूनाम्** पशुओं का **परिपालकः** पालन करता हो, **वाणिज्य-कृषि-कर्ता** व्यापार और खेती करनेवाला **सः** वह **विप्रः** ब्राह्मण **वैश्यः** वैश्य **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—जो ब्राह्मण लौकिक कर्मों में संलग्न हो, पशु पालता हो, व्यापार और खेती करता हो, वह 'वैश्य' कहलाता है।

लाक्षादितैलनीलानां कुसुम्भमधुसर्पिषाम्।
विक्रेता मद्यमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥१४॥

शब्दार्थ—जो **लाक्ष+आदि-तैल-नीलानाम्** लाख आदि पदार्थ, तेल, नील का, **कुसुम्भ-मधु-सर्पिषाम्** कुमकुम [कुसुम्भ का रंग], मधु, घी का और **मद्यमांसानाम्** मद्य [शराब] तथा मांस का **विक्रेता** बेचनेवाला हो **सः** वह **विप्रः** ब्राह्मण **शूद्रः** शूद्र **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—जो ब्राह्मण लाखादि पदार्थ, तेल, नील, कुमकुम, मधु, घी, मद्य और मांस--इन पदार्थों का बेचनेवाला हो, उसे 'शूद्र' कहते हैं।

परकार्यविहन्ता च दाम्भिकः स्वार्थसाधकः।
छली द्वेषी मृदुः क्रूरो विप्रो मार्जार उच्यते ॥१५॥

शब्दार्थ—जो **परकार्यविहन्ता** दूसरे के काम को बिगाड़नेवाला, **दाम्भिकः** पाखण्डी, ढोंगी **च** और **स्वार्थसाधकः** अपने ही स्वार्थसाधन में तत्पर, **छली** छल करनेवाला, **द्वेषी** दूसरे की उन्नति को देखकर जलनेवाला **मृदुः-क्रूरः** ऊपर से अत्यन्त कोमल तथा नम्र परन्तु भीतर से अत्यन्त क्रूर हो वह **विप्रः** ब्राह्मण **मार्जारः** बिलार **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—जो दूसरे के कार्यों को बिगाड़नेवाला ढोंगी, अपने ही स्वार्थ-साधन में तत्पर, छली, द्वेषी, ऊपर से अत्यन्त नम्र और अन्दर

से क्रूर [पैनी छुरी] हो, ऐसा ब्राह्मण 'विलार' कहलाता है।

वापी-कूप-तडागानामाराम-सुर-वेश्मनाम् ।
उच्छेदने निराऽऽशङ्कः स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥१६॥

शब्दार्थ—जो वापी-कूप-तडागानाम्—बावड़ी, कुआँ, तालाबों के आराम-सुर-वेश्मनाम् वाटिका और देवालयों के उच्छेदने तोड़ने-फोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने में निःआशङ्कः निडर हो सः वह विप्रः ब्राह्मण म्लेच्छः म्लेच्छ उच्यते कहलाता है।

भावार्थ—जो ब्राह्मण बावड़ी, कुआँ, तालाब, आराम [वाटिका] और देवालयों [मन्दिरों] के तोड़ने-फोड़ने में निडर हो, वह म्लेच्छ कहलाता है।

विमर्श—आराम का अर्थ है खेलने योग्य बाग, उद्यान कहते हैं फल-प्रधान बाग को और पुष्प-प्रधान बाग उपवन कहलाता है।

देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं परदाराऽभिमर्शनम् ।
निर्वाहः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥१७॥

शब्दार्थ—जो देवद्रव्यम् विद्वानों के द्रव्य को, गुरुद्रव्यम् गुरु के द्रव्य को हर लेता है, परदारा-अभिमर्शनम् पर-स्त्रियों से प्रसङ्ग करता है और सर्वभूतेषु सब प्राणियों में निर्वाहः निर्वाह कर लेता है वह विप्रः ब्राह्मण चाण्डालः चाण्डाल उच्यते कहलाता है।

भावार्थ—जो ब्राह्मण विद्वानों और गुरुओं के धन को चुरा लेता है, परनारियों के साथ सम्भोग करता है और सब प्राणियों में निर्वाह कर लेता है—सबके साथ जीवन-यापन कर लेता है, वह चाण्डाल कहलाता है।

देयं भोज्यधनं सदा सुकृतिभिर्नो सञ्चितव्यं कदा
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधु दानभोगरहितं नष्टं चिरात्सञ्चितं
निर्वाणादिति पाणिपादयुगले घर्षन्त्यहो मक्षिकाः ॥१८॥

इति एकादशोऽध्यायः ॥११॥

शब्दार्थ—सुकृतिभिः पुण्यात्माओं का भोज्यधनम् भोग करने योग्य धन सदा सदा देयम् दान देने के लिए ही होता है, उन्हें कदा कभी भी उसका नो सञ्चितव्यम् सञ्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि दान

देने के कारण ही **श्रीकर्णस्य** दानवीर कर्ण, **बलेः** महाराज बलि **च** और **विक्रमपतेः** महाराज विक्रमादित्य का **कीर्तिः** यश **अद्य+अपि** इस समय तक भी **स्थिता** विद्यमान है। **दानभोगरहितम्** दान और भोग से रहित **अस्माकम्** हम मधुमक्खियों का **चिरात्** चिरकाल से **सञ्चितम्** एकत्र किया हुआ **मधु** शहद नष्ट हो गया। **अहो!** **निर्वाणात्** 'हमारे मधु का नाश हो गया' इति ऐसा सोचकर **मक्षिकाः** मधुमक्खियाँ **पाणिपादयुगले** अपने दोनों हाथ और पैरों को **घर्षन्ति** मलती हैं अर्थात् पश्चात्ताप करती हैं।

भावार्थ—पुण्यात्माओं का भोग करने योग्य धन सदा दान देने के लिए ही होता है, वे कभी भी उसका सञ्चय नहीं करते; क्योंकि दान देने के कारण ही दानवीर कर्ण, महाराज बलि और विक्रमादित्य की कीर्ति आज भी अक्षुण्ण है। दान और भोग से रहित मधुमक्खियों का चिरकाल से सञ्चित किया हुआ मधु नष्ट हो गया। अहो! 'हमारा मधु नष्ट हो गया' ऐसा सोचकर मधुमक्खियाँ अपने दोनों हाथ और पैरों को मलती हैं अर्थात् पश्चात्ताप करती हैं।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
ग्यारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधयः कान्ता प्रियलापिनी
[1]सुधनं सन्मित्रं स्वयोषिति रतिः स्वाऽऽज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाऽऽश्रमः ॥१॥

शब्दार्थ—**सानन्दम्** आनन्द की हिलोरों से युक्त **सदनम्** घर हो **सुताः** पुत्र **च** और पुत्रियाँ **सुधयः** उत्तम बुद्धि से युक्त हों, **कान्ता** पत्नी **प्रियलापिनी** मधुरभाषिणी हो, **सुधनम्** परिश्रम और ईमानदारी से कमाया हुआ धन हो, **सन्मित्रम्** उत्तम मित्र हों, **स्वयोषिति रतिः** अपनी पत्नी में ही प्रेम एवं अनुराग हो, **सेवकाः** नौकर-चाकर **स्वा-आज्ञापराः** स्वामी का आज्ञा पालन करनेवाले हों, **आतिथ्यम्** अतिथियों का आदर-सम्मान होता हो, **शिवपूजनम्** कल्याणकारक परमेश्वर की उपासना होती हो, **गृहे** घर में **प्रतिदिनम्** प्रतिदिन **मिष्टान्नपानम्** मीठे [स्वादिष्ट] भोजन और मधुर पेयों की व्यवस्था हो **च** और **सततम्** सदा **साधोः** सज्जनों, श्रेष्ठ पुरुषों के **सङ्गम्** सङ्ग की **उपासते** उपासना हो—ऐसा **गृहस्थाश्रमः** गृहस्थाश्रम **धन्यः** धन्य और प्रशंसनीय है।

भावार्थ—जहाँ सदा आनन्द की तरङ्गें उठती हों, पुत्र और पुत्रियाँ बुद्धिमान् और बुद्धिमती हों, पत्नी मधुरभाषिणी हो, परिश्रम और ईमानदारी से कमाया हुआ विपुल धन हो, आपत्ति और संकट में काम आनेवाले उत्तम मित्र हों, अपनी पत्नी में प्रेम और अनुराग हो, नौकर-

---

१. पाठभेद—**इच्छापूर्तिधनम्**—अर्थ होगा अभीष्टधन, जिससे इच्छाओं की पूर्ति हो सके। लुडविग महोदय ने यही पाठ स्वीकार किया है परन्तु हमारे विचार में **'सुधनं सन्मित्रं'** पाठ अधिक समीचीन है। इस पाठ में दो भावनाएँ हैं, पूर्वोक्त पाठ में केवल एक।

चाकर स्वामी की आज्ञापालन करनेवाले हों, अतिथियों का आदर-सम्मान होता हो, कल्याणकारी परमात्मा की उपासना होती हो, घर में प्रतिदिन स्वादिष्ट भोजन और मधुर पेयों की सुव्यवस्था हो तथा निरन्तर श्रेष्ठपुरुषों का सत्सङ्ग होता रहे—ऐसा गृहस्थाश्रम वस्तुतः धन्य और प्रशंसनीय है।

विमर्श—इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या हमने अपने ग्रन्थ 'आदर्श 'रिवार' में की है। पाठक वहीं पढ़ें और रसास्वादन करें।

आर्तेषु विप्रेषु दयान्वितश्च
यत् श्रद्धया स्वल्पमुपैति दानम् ।
अनन्तपारं समुपैति राजन्
यद्दीयते तन्न लभेद् द्विजेभ्यः ॥२॥

शब्दार्थ—**दयान्वितः** दयालु **च** और करुणापूर्ण मनुष्य **आर्तेषु** दुःखी तथा पीड़ित **विप्रेषु** ब्राह्मणों को **श्रद्धया** श्रद्धापूर्वक **यत्** जो **स्वल्पम्** थोड़ा-सा भी **दानम्** दान **उप+एति** देता है, **राजन्** हे राजन्! **द्विजेभ्यः** ब्राह्मणों के लिए **यत्** जो कुछ **दीयते** दिया जाता है, **तत्** वह उतना ही **न लभेत्** प्राप्त नहीं होता अपितु वह दान उस पुरुष को परमात्मा की कृपा से **अनन्तपारम्** अनन्त होकर **समुपैति** पुनः सम्यक् प्रकार से मिल जाता है।

भावार्थ—दयालु और करुणापूर्ण मनुष्य दुःखी तथा पीड़ित ब्राह्मणों को जो थोड़ा-सा भी दान देता है, हे राजन्! ब्राह्मणों को जितना दान दिया जाता है, वह उतना ही नहीं मिलता, अपितु परमात्मा की कृपा से वह अनन्तगुणा होकर मिलता है।

विमर्श—दीन-दुःखियों को दान देना चाहिए। वेद में कहा है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत् पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्ति रायः ॥

—ऋ० १०।११७।५

बलवान्=धनसम्पन्न मनुष्य दुःखियों, पीड़ितों की अवश्य सहायता करे। वह दीर्घदृष्टि से काम ले, सुख-दुःख सभी पर आ सकते हैं। धन-सम्पत्ति का गर्व और विश्वास नहीं करना चाहिए। धन तो रथ के पहियों की भाँति घूमते रहते हैं; आज एक के पास हैं तो कल दूसरे के पास पहुँच जाते हैं।

एक बीज वोते हैं, उसके बदले में सैकड़ों और सहस्रों प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार दान भी जितना दिया जाता है, उतना ही नहीं मिलता, वह भी सैकड़ों और सहस्रों गुणा होकर मिलता है।

दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता, उसका फल अवश्यम्भावी है—

ऋतु वसन्त याचक भयो द्रुम दिये सब पात।
ताते नव पल्लव भयो दियो दूर नहिं जात।।

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धृष्टता[1]
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेवलोकस्थितिः ।।३।।

शब्दार्थ—**स्वजने** अपने जनों [बन्धु-बान्धवों] के साथ **दाक्षिण्यम्** सज्जनता, नम्रता, **परजने** दूसरे जनों पर **दया** दया **दुर्जने** दुर्जनों के प्रति **सदा** सदा **शाठ्यम्** दुष्टता, **साधुजने** सज्जनों के प्रति **प्रीतिः** प्रेम **खलजने** दुष्टों के प्रति **स्मयः** हेकड़पना **च** और **विद्वज्जने** विद्वानों के साथ **आर्जवम्** सरलता, **शत्रुजने** शत्रुओं के प्रति **शौर्यम्** शूरवीरता, **गुरुजने** माता-पिता, आचार्य आदि बड़े लोगों के विषय में **क्षमा** सहिष्णुता, सहनशीलता, **नारीजने** स्त्रियों के प्रति **धृष्टता** विश्वास—**इत्थम्** इस प्रकार से **ये** जो **पुरुषाः** पुरुष **कलासु** इन कलाओं में **कुशलाः** कुशल होते हैं **तेषु एव** उन्हीं पर, ऐसे ही लोगों पर **लोकस्थितिः** संसार ठहरा हुआ है।

भावार्थ—अपनों के प्रति सज्जनता, परायों पर दया, दुर्जनों के प्रति दुष्टता, सज्जनों के साथ प्रेम, दुष्टों के साथ हेकड़पना, विद्वानों के साथ सरलता, शत्रुओं के प्रति शूरता, बड़े लोगों के विषय में सहनशीलता, स्त्रियों के प्रति विश्वास—इस प्रकार से जो लोग इन कलाओं

---

१. अधिकांश पुस्तकों में **धूर्तता** पाठ है। लुडविग महोदय ने भी धूर्तता पाठ ही स्वीकार किया है। पाद-टिप्पणी में उन्होंने धृष्टता पाठ भी दर्शाया है। हमारे विचार में धृष्टता पाठ ही समीचीन है। धृष्टता का अर्थ है विश्वास। नारी के साथ धूर्तता का व्यवहार करने से देश उन्नत नहीं होगा, अपितु रसातल को जाएगा। अथवा धूर्तता पाठ होने पर अर्थ की योजना इस प्रकार होगी—'कुलटा स्त्रियों के साथ धूर्तता।'

में कुशल होते हैं, ऐसे लोगों पर ही पृथिवी टिकी हुई है।

विमर्श—वेद में पृथिवी को धारण करनेवाले निम्न गुण बताये गये हैं—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

—अथर्व० १२।१।१

सत्य, महत्त्वाकांक्षा, न्याययुक्त व्यवहार, तेजस्विता=क्षात्रशक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्म=ब्रह्मशक्ति, आत्मज्ञान, यज्ञ=उद्योग-धन्धे और विद्वानों का आदर-सत्कार—ये आठ गुण पृथिवी को धारण करते हैं। हमारे भूत=अतीत और भावी की रक्षिका पृथिवी=भूमिमाता हमारे लिए विस्तृत प्रकाश और स्थान करे।

इन आठ गुणों में से एक गुण है—ऋतम्=न्याययुक्त व्यवहार। चाणक्यजी का सम्पूर्ण श्लोक वेद के केवल एक पद की व्याख्या है।

एक अन्य स्थान पर पृथिवी को धारण करनेवाले सात गुण गिनाये गये हैं—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

—स्कन्द० माहे० कौमार० २।७१

गौओं, त्यागी-तपस्वी ब्राह्मणों, वेदों [वेद की उच्च और उदात्त शिक्षाओं] सती-साध्वी नारियों, सत्यवादियों, निर्लोभियों और दान-शीलों—इन सात पर पृथिवी टिकी हुई है।

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरो
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः॥४॥

शब्दार्थ—जिसके **हस्तौ** दानों हाथ **दानविवर्जितौ** दान से रहित हैं, जिसने जीवन में कभी दान नहीं दिया, **श्रुतिपुटौ** दोनों कान **सारस्वत-द्रोहिणौ** वेद और शास्त्रों से द्रोह करनेवाले हैं अर्थात् जिसने कानों से कभी वेदादि का श्रवण नहीं किया, **नेत्रे** दोनों नेत्र **साधुविलोकनेन** सज्जन पुरुषों के दर्शन से **रहिते** रहित हैं, जिसने नेत्रों से साधु-महात्माओं के दर्शन नहीं किये **पादौ** पैरों से **तीर्थम्** तीर्थ [माता-पिता,

आचार्य, अतिथि की सेवार्थ उनके समीप] **न गतौ** गमन नहीं किया, **अन्याय-अर्जित-वित्तपूर्णम्-उदरम्** अन्याय से उपार्जित धन से जिसका पेट भरा हुआ है और **शिरः** सिर **गर्वेण** गर्व से **तुङ्गम्** ऊँचा उठा हुआ है, **रे रे जम्बुक** रे रे सियाररूपी नीच मनुष्य ! तू **नीचम्** ऐसे नीच और **सुनिन्द्यम्** अत्यन्त निन्दनीय **वपुः** शरीर को **सहसा** अतिशीघ्र **मुञ्च मुञ्च** छोड़ दे, त्याग दे अर्थात् ऐसे गुणरहित जीवन की अपेक्षा शीघ्र मर जाना उत्तम है ।

भावार्थ—जिसने हाथों से दान नहीं दिया, कानों से कभी वेदश्रवण नहीं किया, नेत्रों से सज्जन पुरुषों, साधु-महात्माओं के दर्शन नहीं किये, पाँवों से तीर्थ-गमन नहीं किया, जिसका पेट अन्याय से उपार्जित धन से भरा हुआ है, अभिमान के कारण जो मस्तक को ऊँचा करके चलता है—ऐसा जीवन व्यर्थ है, अतः हे सियाररूपी नीच मनुष्य ! तू ऐसे नीच और निन्दनीय शरीर को जितना शीघ्र हो सके उतनी ही जल्दी छोड़ दे अर्थात् गुणरहित जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है ।

विमर्श—इस श्लोक के अर्थ की सङ्गति एक कथानक से भी लग सकती है, वह इस प्रकार है—

किसी मनुष्य का शव जङ्गल में पड़ा हुआ था, कोई सियार उधर आ निकला और उस शव के हाथों को खाने की चेष्टा करने लगा । तब किसी ने कहा—"हे सियार ! इसके हाथ खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इसने हाथों से कभी दान नहीं दिया ।" तब वह गीदड़ उसके कानों को खाने का प्रयत्न करने लगा, तब वह व्यक्ति बोला—"इसके कान खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इसने कानों से कभी वेद-शास्त्रों का श्रवण नहीं किया ।" जब गीदड़ आँखों को खाने के लिए बढ़ा, तब उस व्यक्ति ने कहा—"इसके नेत्र भी खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इसने नेत्रों से कभी साधु-महात्माओं के दर्शन नहीं किये ।" जब उसने पैरों को खाने की चेष्टा की, तब उस मनुष्य ने कहा—"इसके पैर भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि पैरों से इसने कभी तीर्थ-गमन नहीं किया ।" जब सियार पेट पर आक्रमण करने के लिए तैयार हुआ, तब उसने कहा—"इसका पेट भी खाने योग्य नहीं है, क्योंकि यह अन्यायपूर्वक कमाये हुए धन से भरा हुआ है ।" जब गीदड़ ने सिर को खाने का प्रयत्न किया, तब उस व्यक्ति ने कहा—"इसका सिर भी खाने के योग्य नहीं है, क्योंकि इसका सिर अभिमान के कारण ऊँचा उठा हुआ है" और अन्त में कहा—"हे

हे जम्बुक ! तू इस नीच और अत्यन्त निन्दनीय शरीर को खाने के विचार को शीघ्रातिशीघ्र त्याग दे ।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥५॥

शब्दार्थ—**यदा** यदि **करीर-विटपे** करील के झाड़ में **पत्रम्** पत्ते **न एव** नहीं होते, नहीं निकलते, तब इसमें **वसन्तस्य** वसन्त ऋतु का **किम्** क्या **दोषः** अपराध ? **यदि** यदि **उलूकः** उल्लू **दिवा** दिन में **अपि** भी **न** नहीं **अवलोकते** देखता तो **सूर्यस्य** सूर्य का **किम्** क्या **दूषणम्** दोष ? यदि **चातकमुखे** चातक के मुख में **वर्षा** वर्षा की बूँदें **न एव** नहीं **पतन्ति** गिरतीं तो **मेघस्य** मेघ=बादलों का **किम्** क्या **दूषणम्** अपराध ? **विधिना** विधाता=ब्रह्मा ने **पूर्वम्** पहले से ही **यत्** जो कुछ **ललाट-लिखितम्** मनुष्य के ललाट में लिख रखा है, भाग्य में लिख दिया है **तत्** उसे **मार्जितुम्** मिटाने में **कः** कौन **क्षमः** समर्थ है, अर्थात् भोग तो भोगना ही पड़ता है ।

भावार्थ—यदि करील के झाड़ में पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसन्त-ऋतु का क्या दोष ? यदि उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता तो इसमें सूर्य का क्या अपराध ? यदि वर्षा की बूँदें चातक=पपीहा के मुख में नहीं पड़तीं तो इसमें बादलों का क्या दोष ? विधाता ने जो कुछ ललाट में लिख दिया है, उसे कौन मिटा सकता है ?

विमर्श—पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को भी बदला जा सकता है । शिवाजी ने ठीक ही कहा था—

मैं रख लूँगा सबको तीर के आगे ।
मैं रख दूँगा लाखों को चीर के आगे ।
लोग तो झुकते हैं 'तक़दीर के आगे ।
तक़दीर भी झुक जाएगी मेरे तीर के आगे ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' में लिखते हैं—

"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध

१. भाग्य

बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।"

सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां न हि खलसङ्गमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुम-भवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति ॥६॥

शब्दार्थ--**सत्सङ्गात्** सत्सङ्ग से **हि** निश्चय ही **खलानाम्** दुर्जनों में भी **साधुता** सज्जनता आ जाती है, परन्तु **साधूनाम्** साधुओं में **खलसङ्गमात्** दुष्टों की सङ्गति से **खलत्वम्** दुष्टता **न हि** नहीं आती, जैसे **कुसुमभवम्** पुष्प से उत्पन्न होनेवाली **आमोदम्** सुगन्ध को **मृत्** मिट्टी **एव** ही **धत्ते** धारण [ग्रहण] करती है, **मृत्-गन्धम्** मिट्टी की गन्ध को **कुसुमानि** पुष्प **हि** निश्चय ही **न धारयन्ति** धारण नहीं करते।

भावार्थ—यह सत्य है कि सज्जनों के सङ्ग से दुर्जनों में भी साधुता आ जाती है परन्तु सज्जनों में दुष्टों की सङ्गति से असाधुता, दुष्टता नहीं आती। उदाहरण के रूप में मिट्टी फूल की गन्ध को ग्रहण कर लेती है परन्तु मिट्टी की गन्ध को फूल कभी धारण नहीं करते।

विमर्श—सत्सङ्ग की महिमा महान् है। भर्तृहरिजी लिखते हैं—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥

—नीति० २२

सत्सङ्गति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान को बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को आह्लादित करती है और चहुँ दिशाओं में कीर्ति फैलाती है। बताओ, वह कौन-सी भलाई है, जो सज्जनों की सङ्गति से प्राप्त नहीं होती ?

जिस तुलसीदासजी ने लिखा है—

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥

—मानस, लंका०

वही तुलसीदासजी लिखते हैं—

सठ सुधरहि सत्संगति पाई। पारस परसि कुधात सुहाई।

—मानस, बाल०

सज्जनों की सङ्गति से दुष्ट सज्जन बन जाता है, जहाँ यह बात ध्रुव सत्य है, वहाँ यह बात भी सत्य है कि दुष्टों के साथ बैठने से श्रेष्ठ मनुष्य का भी पतन हो जाता है। भीष्म जैसा विद्वान् दुर्योधन की सङ्गति में रहने के कारण महाराज विराट की गौएँ हरण करने [चुराने] के लिए चला गया। किसी ने ठीक ही कहा है—

काजल की कोठरी में कैसो हू सुस्यानो जात।
एक रेख काजल की लागे हू पै लागे है।।

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ।।७।।

शब्दार्थ—**साधूनाम्** श्रेष्ठ पुरुषों, सज्जनों का **दर्शनम्** दर्शन करना भी **पुण्यम्** पुण्यप्रद है, **हि** क्योंकि **साधवः** सज्जन पुरुष **तीर्थभूताः** साक्षात् तीर्थरूप [तारनेवाले] ही है। **तीर्थम्** तीर्थ तो **कालेन** समय पाकर **फलते** फलप्रदान करता है परन्तु **साधुसमागमः** साधुओं का सङ्ग तो **सद्यः** शीघ्र ही मनोरथों को पूर्ण कर देता है।

भावार्थ—साधुओं, सज्जनों का दर्शनमात्र भी पुण्यप्रद है, क्योंकि साधु-सन्त साक्षात् तीर्थरूप ही होते हैं। तीर्थ तो समय आने पर ही फल देते हैं परन्तु साधुओं का दर्शन और सङ्गति तो तुरन्त फल प्रदान करती है।

विमर्श—सच्चे साधु-सन्तों की महिमा में ठीक ही कहा गया है—

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसङ्गतिः।।

संसार में चन्दन अत्यन्त शीतल होता है परन्तु चन्दन से भी चन्द्रमा अधिक शीतल होता है और चन्दन तथा चन्द्रमा से भी साधुओं की सङ्गति अधिक शीतल एवं शान्तिप्रद होती है।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।।

—भागवत० १०।८४।११

जलवाले तीर्थ नहीं होते, मिट्टी और पत्थर के बने हुए पदार्थ देवता नहीं होते। वे तीर्थ आदि तो वहुत देर में पवित्र करते हैं [हमारे विचार में सारी आयु में भी पवित्र नहीं करते] परन्तु साधु लोग तो दर्शन-मात्र से पवित्र कर देते हैं।

विप्राऽस्मिन्नगरे महान् कथय कस्तालद्रुमाणां गणः
को दाता रजको ददाति वसनं प्रातर्गृहीत्वा निशि।
को दक्षः परदारवित्तहरणे सर्वोऽपि दक्षो जनः
कस्माज्जीवसि हे सखे विषकृमिन्यायेन जीवाम्यहम् ॥८॥

शब्दार्थ— किसी पथिक ने किसी नगर में पहुँचकर किसी ब्राह्मण से पूछा—**विप्र** हे ब्राह्मण! **कथय** वताओ तो **अस्मिन्** इस **नगरे** नगर में **महान्** वड़ा **कः** कौन है? उस [विप्र]ने उत्तर दिया—**तालद्रुमाणाम्** ताड़ के वृक्षों का **गणः** समुदाय। पथिक ने पुनः प्रश्न किया—**दाता** दानशील **कः** कौन है? उत्तर मिला **रजकः** धोबी सबसे बड़ा दाता है जो **प्रातः** प्रातःकाल **वसनम्** वस्त्र **गृहीत्वा** ले जाकर **निशि** रात्रि में [सायंकाल] **ददाति** लौटा देता है। पथिक ने पूछा—यहाँ **दक्षः** चतुर **कः** कौन है? विप्र ने कहा—**पर-वित्त-दार-हरणे** दूसरे के धन और स्त्री को हरण करने में **सर्वः+अपि** सभी **जनः** मनुष्य **दक्षः** चतुर हैं। पथिक ने पूछा—ऐसी अवस्था में **कस्मात्** कैसे **जीवसि** जीते हो? विप्र वोला—**हे सखे** हे मित्र! **अहम्** मैं **विषकृमिन्यायेन** विष में रहनेवाले कीड़े के समान [जो उसी में उत्पन्न होता है, उसी में जीता है और उसी में मर जाता है] इनके साथ रहता हुआ ही **जीवामि** जीता हूँ।

भावार्थ—किसी पथिक ने नगर में पहुँचकर पूछा—हे विप्र! इस नगर में बड़ा कौन है? उसने उत्तर दिया—ताड़ के वृक्षों का समूह। दाता कौन है? धोबी—जो प्रातःकाल वस्त्र ले जाकर सायंकाल वापस लौटा देता है। चतुर कौन है? दूसरे का धन और स्त्री का अपहरण करने में सभी चतुर हैं। ऐसी स्थिति में तुम जीते कैसे हो? जैसे विष का कीड़ा विष में ही उत्पन्न होता है, और विष में ही जीता है, वैसे ही मैं भी जीता हूँ।

न विप्रपादोदककर्दमानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि ।
स्वाहा-स्वधाकार-विवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि ॥९॥[1]

शब्दार्थ—जिन घरों में **विप्र-पाद-उदक-कर्दमानि** ब्राह्मणों के पाँवों को धुलानेवाले जल से कीचड़ न न हुआ हो, **वेद-शास्त्र-ध्वनि-र्गाजतानि** वेदादि शास्त्रों के पाठ की गर्जना न नहीं गूँजती हो, **स्वाहा-स्वधाकार-विवर्जितानि** जो घर स्वाहा [यज्ञमन्त्रों के अन्त में बोले जानेवाले 'स्वाहा'] और स्वधा [माता-पिता आदि पितरों को दिये जानेवाले भोजन को प्रस्तुत करते समय उच्चारित उद्गार] की ध्वनि से रहित हैं, **तानि** वे **गृहाणि** घर **श्मशानतुल्यानि** श्मशान-भूमि के समान हैं ।

भावार्थ—जिन घरों में ब्राह्मणों के पैरों को धुलानेवाले जल से कीचड़ नहीं हो जाता, जहाँ वेदादि शास्त्रों की ध्वनि नहीं गूँजती, जहाँ स्वाहा और स्वधाकार की ध्वनि नहीं होती, वे घर श्मशान भूमि के समान हैं अर्थात् धर्म-कर्मरहित घर मुर्दों का निवास-स्थान है ।

विमर्श—स्वर्ग के तुल्य घर कौन-से हैं ? इसी श्लोक में तनिक-सा परिवर्तन करने पर स्वर्ग के समान घरों का आभास मिल जाता है—

स-विप्र-पादोदक-कर्दमानि
सवेदशास्त्रध्वनिर्गाजतानि ।
स्वाहास्वधाकारनिरन्तराणि
स्वर्गानि तुल्यानि गृहाणि तानि ॥

जिन घरों में ब्राह्मण के पैरों को धुलानेवाले जल से कीचड़ हो जाता हो, जहाँ सदा वेद-शास्त्रों की ध्वनि गूँजती रहती हो और जहाँ निरन्तर स्वाहा [यज्ञ करने] तथा स्वधा [माता-पिता आदि वृद्धों को भोजन देने, लीजिए, खाइए] का घोष सुनाई देता हो, ऐसे घरों को स्वर्ग के समान समझना चाहिए।

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया स्वसा ।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः ॥१०॥

---

१. यह श्लोक थोड़े से पाठभेद के साथ भविष्यपुराण [मध्यमपर्व, प्रथमभाग ५।२२] में उपलब्ध है ।

शब्दार्थ—कोई योगी अपने परिवार का परिचय देते हुए कहता है—**सत्यम्** सत्य को जानना, सत्य ही मानना, सत्य ही बोलना और सत्य ही लिखना भी, **माता** मेरी माता है, **ज्ञानम्** यथार्थ ज्ञान **पिता** मेरा पिता है, पालक और रक्षक है, **धर्मः** धर्म **भ्राता** मेरा भाई है, **दया** प्राणिमात्र पर दया करना **स्वसा** मेरी बहन है, **शान्तिः** शान्ति **पत्नी** मेरी पत्नी है, **क्षमा** सहनशीलता **पुत्रः** मेरा पुत्र है—**एते** ये **षट्** छह **मम** मेरे **बान्धवाः** बन्धु-बान्धव हैं।

भावार्थ—किसी संसारी पुरुष ने किसी योगी को अत्यन्त आनन्द-मग्न देखकर पूछा—"संसार में जिसे उत्तम माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री और पुत्र मिलते हैं, वह उतना ही सुखी होता है। आप अत्यन्त आनन्दमग्न दिखाई देते हैं, अतः आपको भी उत्तम परिवार मिला होगा। कृपया अपने परिवार का परिचय दीजिए।" तब योगी ने अपने परिवार का परिचय देते हुए कहा—

"सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है, दया मेरी बहन है, शान्ति मेरी पत्नी है और क्षमा=सहनशीलता मेरा पुत्र है—ये छह ही मेरे बन्धु-बान्धव हैं, जिन्हें पाकर मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ।"

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥११॥

शब्दार्थ—**शरीराणि** शरीर **अनित्यानि** नाशवान् हैं **विभवः** धन-सम्पत्ति **एव** भी **शाश्वतः** सदा रहनेवाली **न** नहीं है। **मृत्यु** मौत **नित्यम्** सदा **सन्निहितः** सिरहाने खड़ी है, अतः सदा **धर्मसंग्रहः** धर्म का सञ्चय और धर्म का आचरण **कर्तव्यः** करना चाहिए।

भावार्थ—शरीर नाशवान् हैं, धन-सम्पत्ति भी सदा रहनेवाली नहीं है, मौत सदा सिरहाने खड़ी है, अतः धर्म का सञ्चय, धर्माचरण करना चाहिए।

विमर्श—शरीर नाशवान् है। वेद ने कहा है—

तव शरीरं पतयिष्णवर्वन्। —यजु० २९।२२

हे जीवात्मन्! तेरा शरीर नाशवान् है।

धन भी शाश्वत नहीं है। लक्ष्मी को चञ्चला कहते हैं। यह आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास।

मृत्यु हर समय सिरहाने खड़ी है, पता नहीं कहाँ झटका मार दे। इसलिए कहा गया है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

—चाणक्यनीतिशास्त्रम्

बुद्धिमान् मनुष्य को अपने को अजर और अमर समझकर विद्या तथा धन का उपार्जन करना चाहिए परन्तु मृत्यु ने बालों को पकड़ रखा है, पता नहीं कब और कहाँ झटका मार दे, ऐसा सोच और समझकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

शुक्राचार्य ने भी लिखा है—

स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्ति न।
इति मत्वा दानधर्मौ यथेष्टौ तु समाचरेत्॥

—शुक्र० ३।२०८

"मैं मौत के मुख में स्थित हूँ। मेरी क्षणभर की भी आयु नहीं है"—ऐसा समझकर मनुष्य को यथेष्ट दान और धर्म का आचरण करना चाहिए।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

—मनु० ४।२४१

बन्धु-बान्धव मरे हुए [निर्जीव] शरीर को लक्कड़ और ढेले के समान भूमि पर छोड़कर पराङ्मुख होकर चले जाते हैं [उसके साथ कोई नहीं जाता], केवल मनुष्य का धर्म ही उसके साथ जाता है, अतः धर्म का संचय करना चाहिए।

आमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
पत्युत्साहयुता नार्यः अहं कृष्ण-रणोत्सवः॥१२॥

शब्दार्थ—**विप्राः** ब्राह्मणों के लिए **आमन्त्रण-उत्सवाः** भोजन के लिए निमन्त्रण मिलना ही उत्सव होता है। **गावः** गौओं के लिए **नव-तृण-उत्सवाः** नवीन घास की प्राप्ति ही उत्सव है। **पति-उत्साहयुताः** पति का उत्साह से युक्त होना ही **नार्यः** स्त्रियों का उत्सव है। चाणक्यजी कहते हैं **अहम्** मेरे लिए तो **कृष्ण-रण-उत्सवः** भयंकर मार-काटवाला युद्ध ही उत्सव है।

भावार्थ—भोजन के लिए निमन्त्रण ब्राह्मणों के लिए उत्सव के समान है। चरने के लिए नई-नई घास की प्राप्ति होना गौओं के लिए उत्सव के समान है। पति का उत्साह से युक्त रहना ही स्त्रियों के लिए उत्सव के समान है और मेरे [चाणक्य के] लिए भयंकर मार-काटवाला युद्ध ही उत्सव के समान है।

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥१३॥

शब्दार्थ—**यः** जो **परदारान्** दूसरों की स्त्रियों को **मातृवत्** माता के समान **च** और **परद्रव्याणि** दूसरे के धन को **लोष्ठवत्** मिट्टी के ढेले के समान तथा **सर्वभूतानि** सारे प्राणियें को **आत्मवत्** अपने आत्मा के समान **पश्यति** देखता है वस्तुतः संसार में **सः** वही **पश्यति** यथार्थरूप से देखता है।

भावार्थ—जो मनुष्य परस्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के समान देखता [समझता] है, वस्तुतः वही ठीक-ठीक देखता है।

विमर्श—परधन और परस्त्री पर कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए—

परान्नं परवस्त्रं च परशय्यां परस्त्रियः।
परवेश्म निवासं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥

—वृद्धचाणक्य ३।५

दूसरे के अन्न, दूसरे के वस्त्र, दूसरे की शय्या, दूसरे की स्त्री और दूसरे के घर में निवास— इन बातों को दूर से ही त्याग दे।

सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझना चाहिए। वेद में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

—यजु० ४०।६

जो विद्वान् विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण के पश्चात् परमात्मा में ही सब जड़-चेतन आदि को देखता है और सुख-दुःख, हानि-लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझता है, ऐसे सम्यक् दर्शन के पश्चात् वह सन्देहरहित हो जाता है, फिर वह किसी से घृणा और द्वेष नहीं करता।

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयता चित्तेऽति गम्भीरता ।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता [1]सत्स्वेव संदृश्यते ॥१४॥

शब्दार्थ—**धर्मे** धर्म में **तत्परता** तत्परता, **मुखे** मुख में **मधुरता** माधुर्य, मीठे वचन, **दाने** दान देने में **समुत्साहता** अत्यन्त उत्साह होना, **मित्रे** मित्र के विषय में [मित्र के साथ] **अवञ्चकता** निष्कपटता एवं निश्छलता, **गुरौ** गुरु के प्रति **विनयता** नम्रता, **चित्ते** अन्तःकरण में **अति गम्भीरता** अगाध गम्भीरता, **आचारे** आचार में **शुचिता** पवित्रता, **गुणे** गुण में **रसिकता** गुण-ग्राहकता, **शास्त्रेषु** शास्त्रों में **विज्ञानता** विशेष ज्ञान का होना, **रूपे** रूप में **सुन्दरता** सौन्दर्य और **शिवे** परमेश्वर में **भजनता** भक्ति का होना—ये बातें **सत्सु** सज्जन पुरुषों में **एव** ही **संदृश्यते** दिखाई देती हैं।

भावार्थ—धर्म में तत्परता, मुख में मधुरता, दान देने में अत्यन्त उत्साह का होना, मित्रों के प्रति निष्कपटता, गुरु के प्रति नम्रता, अन्तःकरण में समुद्र के समान गम्भीरता, आचार में पवित्रता, गुणों में रसिकता, शास्त्रों में विज्ञता, रूप में सुन्दरता और परमेश्वर की भक्ति—ये बातें सज्जनों में ही दृष्टिगोचर होती हैं।

काष्ठं कल्पतरुः सुमेरुरचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः
सूर्यस्तीव्रकरः शशी क्षयकरः क्षारो हि वारां निधिः ।
कामो नष्टतनुर्बलिर्दितिसुतो नित्यं पशुः कामगौ-
र्नैतांस्ते तुलयामि भो रघुपते कस्योपमा दीयते ॥१५॥

शब्दार्थ—**कल्पतरुः** कल्पवृक्ष यद्यपि कामनाओं का पूरक है परन्तु वह **काष्ठम्** काष्ठ=लक्कड़ है, **सुमेरुः** सुमेरु **अचलः** पर्वत है, **चिन्तामणिः** चिन्तामणि **प्रस्तरः** पत्थर है, **सूर्यः** सूर्य **तीव्रकरः** प्रचण्ड किरणोंवाला है, **शशी** चन्द्रमा **क्षयकरः** क्षीण होनेवाला है, **वाराम् निधिः**

---

१. पाठभेद—'स्वय्यस्ति भो राघव'—यह पाठ होने पर अर्थ होगा—'हे राघव! ये गुण तुम्हीं में हैं।' हमारे विचार में 'सत्स्वेव संदृश्यते' पाठ अधिक समीचीन है।

समुद्र हि निश्चय ही **क्षारः** खारी है, **कामः** कामदेव **नष्टतनुः** शरीर-रहित है, **बलिः** दानशील बलि **दितिसुतः** दैत्य है और **कामगौः** काम-धेनु तो **नित्यम्** सदा **पशुः** पशु ही है—**एतान्** इन सबको **ते** तेरे समान **न तुलयामि** नहीं पाता हूँ। **भो रघुपते** हे रघुपते=राम! आपकी **कस्य** किसके साथ **उपमा** उपमा **दीयते** दी जाए, किसके साथ तुलना की जाए?

भावार्थ—कल्पवृक्ष काष्ठ है, सुमेरु पर्वत है, चिन्तामणि पत्थर है, सूर्य प्रचण्ड किरणोंवाला है, चन्द्रमा क्षीण होनेवाला है, समुद्र खारी है, कामदेव अशरीरी है, बलि दैत्य=राक्षस है और कामधेनु पशु है, अतः हे रघुपते! इनमें से किसी के भी साथ आपकी तुलना नहीं हो सकती, फिर आपकी किससे उपमा दी जाए?

विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम् ।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत् कैतवम् ॥१६॥

शब्दार्थ—**राजपुत्रेभ्यः** राजपुत्रों से **विनयम्** नम्रता एवं सुशीलता, **पण्डितेभ्यः** पण्डितों, विद्वानों से **सुभाषितम्** श्रेष्ठ और प्रियवचन बोलना, **द्यूतकारेभ्यः** जुआरियों से **अनृतम्** मिथ्या-भाषण और **स्त्रीभ्यः** स्त्रियों से **कैतवम्** छल करना **शिक्षेत्** सीखना चाहिए।

भावार्थ—राजपुत्रों से नम्रता एवं शालीनता, विद्वानों से श्रेष्ठ और प्रियवचन बोलना, जुआरियों से मिथ्याभाषण और स्त्रियों से छल करने की विद्या सीखनी चाहिए।

अनालोक्य व्ययं कर्ता ह्यनाथः कलहप्रियः ।
आतुरः सर्वक्षेत्रेषु नरः शीघ्रं विनश्यति ॥१७॥

शब्दार्थ—**अनालोक्य** बिना देखे, बिना विचारे, अनाप-शनाप **व्ययम्** व्यय=खर्च **कर्ता** करनेवाला, **अनाथः** सहायकों से रहित होने पर **हि** भी **कलहप्रियः** लड़ाई-झगड़े में प्रीति रखनेवाला और **सर्वक्षेत्रेषु** सब वर्णों की स्त्रियों में सम्भोग के लिए **आतुरः** उत्सुक [उतावला] रहने-वाला **नरः** मनुष्य **शीघ्रम्** शीघ्र ही **विनश्यति** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—बिना सोचे-समझे अनाप-शनाप व्यय करनेवाला, सहायक न होने पर भी लड़ाई-झगड़ा करनेवाला और सब वर्णों की स्त्रियों से सम्भोग करने के लिए उतावला मनुष्य शीघ्र नष्ट हो जाता है।

विमर्श—बिना विचारे व्यय=खर्च करनेवाले की दुर्दशा होती है

0जमाने की चक्की उसे वेगी पीस।
जिसकी आय हो उन्नीस और खर्च बीस।।

सब वर्णों की स्त्रियों में सम्भोग के लिए उतावला होना नाश का कारण है—

परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
न हीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।।

किसी को भी सब वर्णों की परस्त्रियों के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि तीनों लोकों में इस जैसा [परस्त्री-गमन जैसा] आयु को क्षीण करनेवाला और कोई दोष नहीं है।

महर्षि वाल्मीकि ने तीन दोषों को मनुष्य का नाशक बताया है, उनमें परस्त्री के साथ सम्भोग भी एक है—

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषाः क्षयावहाः।।

—वाल्मी० युद्ध० ८७।२३

पराये धन का अपहरण, परस्त्री के साथ संसर्ग और अपने हितैषी मित्रों पर अविश्वास—ये तीन दोष विनाशकारी हैं।

नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत्।
आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते।।१८।।

शब्दार्थ—प्राज्ञः बुद्धिमान् मनुष्य को **आहारम्**=भोजन के विषय में **न चिन्तयेत्** चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसे तो **एकम्** एकमात्र **धर्मम्** धर्म का **हि** ही **चिन्तयेत्** चिन्तन करना चाहिए, **हि** क्योंकि **आहारः** आहार [भोजन] तो **मनुष्याणाम्** मनुष्यों के **जन्मना सह** जन्म के साथ ही **जायते** उत्पन्न हो जाता है।

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को अपने आहार, भोजन के सम्बन्ध में सोच-विचार नहीं करना चाहिए, उसे तो केवल धर्म का ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य का आहार तो उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हो जाता है।

विमर्श—मनुष्य को आहार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परमात्मा की प्रतिज्ञा है—

0अहं दाशेषु वि भजामि भोजनम्। —ऋ० १०।४८।१

आत्मसमर्पण करनेवालों को भोजन मैं देता हूँ। और—

ईशा वास्यमिदँ सर्वम्। —यजु० ४०।१

इस चराचर जगत् को परमात्मा ने थामा हुआ है, धारण किया हुआ है। हे भक्त ! तू उसपर विश्वास कर। जिसने सारे ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है, क्या वह तुझे धारण नहीं करेगा ? सुन—

दाँत न थे तब दूध दियो अब दाँत दिये तो का अन्न न दैहें।
जीव बसे जल में थल में सबकी सुधि लेय सो तेरी भी लैहें।
काहे को सोच करे मन मूरख सोच करे कछु हाथ न ऐहें।
जान को देत अजान को देत, जहान को देत सो तोकू न दैहें॥

मनुष्य को धर्म का ही चिन्तन करना चाहिए—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥

—शुक्रनीति० ३।१

सभी प्राणियों की किसी भी कार्य को करने की जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सभी आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए होती हैं। सुख धर्म के बिना नहीं मिलता, अतः मनुष्य को धर्मपरायण होना चाहिए।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥१९॥

शब्दार्थ—**क्रमशः** क्रमपूर्वक **जल-बिन्दु-निपातेन** पानी की एक-एक बूंद गिरने से **घटः** घड़ा **पूर्यते** भर जाता है, **सः** यही [धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा संचय करते जाना] **सर्वविद्यानाम्**, सब विद्याओं की **च** और **धर्मस्य** धर्म की **च** तथा **धनस्य** धन की प्राप्ति का **हेतुः** कारण है।

भावार्थ—क्रमशः पानी की एक-एक बूंद गिरने से घड़ा भर जाता है, इसी प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करने से सब विद्याओं की प्राप्ति हो जाती है, इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके धर्म और धन का सञ्चय भी हो जाता है।

विमर्श—धीरे-धीरे अभ्यास करने से सब सध जाता है—

शनैरर्थाः शनैः पन्थाः शनैः पर्वतमारुहेत्।
शनैर्विद्या च धर्मश्च व्यायामश्च शनैः शनैः॥

—वृद्धचाणक्य ६।१४

धीरे-धीरे धनोपार्जन करना चाहिए, धीरे-धीरे मार्ग गमन करना चाहिए, धीरे-धीरे पर्वत पर चढ़ना चाहिए, धीरे-धीरे विद्या और धर्म का साधन करना चाहिए तथा धीरे-धीरे व्यायाम करना चाहिए।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्।
न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ॥

—शुक्र० ३।१७६

विद्या और धन चाहनेवाले को क्षण और कण का त्याग [दो-चार मिनट में क्या हो जाएगा, थोड़ा-सा है, इससे क्या लाभ होगा, इस बुद्धि से उपेक्षा] नहीं करनी चाहिए अपितु एक-एक क्षण का सदुपयोग करके विद्या की साधना करनी चाहिए और कण-कण [थोड़ा-थोड़ा] जोड़कर धन का संचय करना चाहिए।

वयसः परिणामेऽपि यः खलः खल एव सः ।
सुपक्वमपि माधुर्यं नोपयातीन्द्रवारुणम् ॥२०॥

इति द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

शब्दार्थ—**वयसः** अवस्था के **परिणामे** परिपाक हो जाने, ढल जाने पर भी **यः** जो **खलः** दुष्ट है, **सः** वह **खलः** दुष्ट **एव** ही रहता है जैसे **सुपक्वम्** अत्यन्त पक जाने पर **अपि** भी **इन्द्रवारुणम्** इन्द्रायण का फल **माधुर्यम्** मिठास को **न+उपयाति** प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—अवस्था के परिपक्व हो जाने पर भी जो दुष्ट है वह दुष्ट ही बना रहता है, जैसे अत्यन्त पक जाने पर भी इन्द्रायण के फल में मिठास नहीं आती, वह कड़वा ही बना रहता है।

विमर्श—स्वभाव का बदलना अति कठिन है—

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम् ॥

—हितो० ३।६०

जिसका जो स्वभाव होता है, वह सदा रहनेवाला तथा अमिट होता है। यदि कुत्ते को राजा बना दिया जाए तो क्या वह जूता चबाने के अपने स्वभाव को छोड़ सकता है? कदापि नहीं।

नलिकागतमपि कुटिलं न भवति सरलं शुनः पुच्छम्।
तद्वत् खलजनहृदयं बोधितमपि नैव याति माधुर्यम् ॥

कुत्ते की टेढ़ी पूँछ को नलिका में डालने पर भी वह सीधी नहीं होती, वैसे ही दुर्जनों का हृदय उपदेश करने पर भी मधुर नहीं होता।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
बारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना ॥१॥

शब्दार्थ—**शुक्लेन** श्रेष्ठ, उत्तम, शुभ, पुण्य **कर्मणा** कर्म करता हुआ **नरः** मनुष्य **मुहूर्तम्** एक मुहूर्त [अड़तालीस मिनट] **अपि** भी **जीवेत्** जीवित रहे तो अत्युत्तम है परन्तु **लोकद्वयविरोधिना** इहलोक और परलोक के विरोधी **कष्टेन** दुष्ट, अशुभ, पापकर्म करनेवाले का **कल्पम्, अपि** कल्पभर का जीना भी न उत्तम नहीं है।

भावार्थ—श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए मनुष्य का एक मुहूर्तभर भी जीवित रहना अच्छा है परन्तु इहलोक और परलोक विरोधी दुष्ट कर्म करनेवाले का तो कल्पभर जीना भी व्यर्थ है।

विमर्श—श्रेष्ठ कर्म करते हुए थोड़ी देर जीना भी उत्तम है—

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
—महा० उद्यो० १३३।१५

एक मुहूर्तभर भी प्रज्वलित रहना अच्छा परन्तु दीर्घकाल तक धुआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं।

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः॥
—महा० उद्यो० १३३।२३

दान, तप, सत्यभाषण, विद्या और धनोपार्जन में जिसकी कीर्ति का सर्वत्र गान नहीं होता, वह मनुष्य अपनी माता का पुत्र नहीं, मल-मूत्र मात्र ही है।

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यैर्
विज्ञान - विक्रम - यशोभिरभग्नमानम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति सन्तः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुंक्ते॥
—चाणक्यराजनीतिशास्त्रम् ८।३४

विज्ञान, पराक्रम और कीर्ति से युक्त तथा लोकों में प्रसिद्ध होकर जो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित रहता है, सज्जन लोग उसी को जीवित कहते हैं, यूँ तो कौआ भी बहुत दिन जीवित रहता है और बलि का अन्न खाकर अपना पेट भरता है।

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः ॥२॥

शब्दार्थ—**गते** बीती हुई बात का **शोकः** शोक **न** नहीं **कर्तव्यः** करना चाहिए, **भविष्यम्** भविष्य की **एव** भी **न चिन्तयेत्** चिन्ता नहीं करनी चाहिए। **विचक्षणाः** बुद्धिमान् लोग **वर्तमानेन** वर्तमान **कालेन** काल के अनुसार **प्रवर्तन्ते** कार्य में प्रवृत्त होते हैं, जुट जाते हैं।

भावार्थ—बीती हुई बात का शोक नहीं करना चाहिए और भविष्य में क्या होगा इसकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान् लोग वर्तमान काल के अनुसार कार्य में जुट जाते हैं।

विमर्श—बीती हुई बात का शोक नहीं करना चाहिए—

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥

—वा० राम० अयो० ६२।१५

शोक धैर्य को नष्ट कर देता है, शोक शास्त्रज्ञान को भी लुप्त कर देता है, शोक सब-कुछ नष्ट कर देता है, अतः शोक के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

वर्तमान काल में ही कार्य में जुट जाना चाहिए—

Trust no future, however pleasant,
Let the dead past bury its dead,
Act act in the living present,
Heart within and God over head.

—Longfellow

भविष्य चाहे कितना ही सुन्दर हो उस पर विश्वास मत करो, भूतकाल की भी चिन्ता मत करो, जो कुछ करना है उसे अपने पर और परमात्मा पर विश्वास रखकर वर्तमान काल में ही करो।

स्वभावेन हि तुष्यन्ति देवाः सत्पुरुषाः पिता।
ज्ञातयः स्वन्नपानाभ्यां वाक्यदानेन पण्डिताः ॥३॥

शब्दार्थ—**देवाः** विद्वान् लोग, **सत्पुरुषाः** श्रेष्ठ मनुष्य, सज्जन लोग और पिता पिता—ये सब **स्वभावेन** स्वभाव से [By nature] **हि** ही **तुष्यन्ति** सन्तुष्ट होते हैं। **ज्ञातयः** बन्धु-बान्धव सु+**अन्नपानाभ्याम्** उत्तम भोजन और मधुर पेय [खान-पान] से तथा **पण्डिताः** पण्डित लोग **वाक्यप्रदानेन** मधुर भाषण से प्रसन्न होते हैं।

भावार्थ—विद्वान् लोग, सज्जन पुरुष और पिता—ये स्वभाव से ही सन्तुष्ट होते हैं। बन्धु-बान्धव खान-पान से और पण्डितगण मधुर भाषण से प्रसन्न होते हैं।

अहो बत विचित्राणि चरितानि महाऽऽत्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्ति च ॥४॥

शब्दार्थ—**अहो बत** अहो ! आश्चर्य है **महा+आत्मनाम्** महात्माओं के **चरितानि** चरित्र **विचित्राणि** विचित्र होते हैं। वे **लक्ष्मीम्** धन-सम्पत्ति को **तृणाय** तृण के समान **मन्यन्ते** मानते हैं **च** परन्तु **तत्** उसके **भारेण** भार से **नमन्ति** झुक जाते हैं, विनम्र बन जाते हैं।

भावार्थ—महात्माओं के चरित्र भी विचित्र ही होते हैं। वे धन को तृण=तिनके के समान तुच्छ मानते है परन्तु उसके भार से नम्र हो जाते हैं।

विमर्श—सचमुच महापुरुषों के चरित्र विचित्र होते हैं, देखिए—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥

—उत्तरराम० २।७

महापुरुषों का हृदय वज्र से भी कठोर और कुसुम [पुष्प] से भी कोमल होता है। उसे जानने में कौन समर्थ हो सकता है ?

और देखिए—

सम्पत्सु महतां चित्त भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥

समृद्धि में महापुरुषों का चित्त नीलकमल के समान कोमल हो जाता है परन्तु आपत्ति में वह महापर्वत के पत्थरों के समान कठोर हो जाता है।

वित्ते त्यागः क्षमा शक्तौ दुःखे दैन्यविहीनता।
निर्दम्भता सदाचारे स्वभावोऽयं महात्मनाम् ॥

धन होने पर दान देना, शक्ति होने पर क्षमाशीलता, दु:ख आ पड़ने पर भी दीनता न दिखाना, सदाचारी होने पर भी दम्भ से दूर रहना—यह महात्माओं का स्वभाव ही है।

यस्य स्नेहो भयं तस्य स्नेहो दुःखस्य भाजनम् ।
स्नेहमूलानि दुःखानि तानि त्यक्त्वा वसेत्सुखम् ॥५॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिसका किसी के प्रति **स्नेहः** स्नेह, प्रेम होता है, **तस्य** उसी का [उसी से] **भयम्** भय भी होता है। **स्नेहः** स्नेह [प्रीति] **दुःखस्य** दु:ख का **भाजनम्** आधार है। **स्नेहमूलानि दुःखानि** स्नेह ही सारे दु:खों का मूल है, अत: **तानि** उन स्नेह-बन्धनों को **त्यक्त्वा** त्यागकर **सुखम्** सुखपूर्वक **वसेत्** रहना चाहिए।

भावार्थ—जिसे किसी के प्रति प्रेम होता है, उसे उसी से भय भी होता है। प्रीति दु:खों का आधार है। स्नेह ही सारे दु:खों का मूल है, अत: स्नेह-बन्धनों को तोड़कर सुखपूर्वक रहना चाहिए।

विमर्श—स्नेह सब दु:खों का मूल है। स्नेह [प्रीति, तेल] से दीपक की बत्ती भी जल जाती है। स्नेह के कारण तिलों को कोल्हू में पेला जाता है और मनुष्य भी स्नेह=आसक्ति के कारण संसार-चक्र में पीसा जाता है।

स्नेहेन तिलवत्सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः॥

—महा० शान्ति १७४।२४

तेली लोग तेल के लिए जैसे तिल को कोल्हू में पेलते हैं, उसी प्रकार स्नेह के कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशों द्वारा सृष्टि-चक्र में पिस रहे हैं।

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥६॥[1]

शब्दार्थ—**अनागतविधाता** आनेवाले दु:ख के प्रतिकार के लिए पहले से ही उपाय सोच लेनेवाला **च** और **प्रत्युत्पन्नमतिः** विपत्ति आने पर शीघ्र ही उसे दूर करने का उपाय सोच लेनेवाला **एतौ** ये **द्वौ** दोनों

---

१. यह श्लोक 'पञ्चतन्त्र' [१।३४७] में इसी रूप में और महाभारत [शान्ति० १३७।१] में कुछ पाठभेद से उपलब्ध है।

सुखम् एधेते सुख से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, **तथा** तथा **यद्भविष्यः** 'जो भाग्य में है वह होगा' ऐसा सोचनेवाला **विनश्यति** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जो संकट आने से पूर्व ही अपने बचाव का उपाय कर लेता है और जिसे ठीक समय पर आत्मरक्षा का उपाय सूझ जाता है— ये दोनों ही प्रकार के व्यक्ति सुख से अपनी वृद्धि करते हैं परन्तु 'जो भाग्य में लिखा है वही होगा' ऐसा सोचनेवाला नष्ट हो जाता है।

विमर्श—इस विषय में एक शिक्षाप्रद कथानक है—

किसी सरोवर में जो बहुत गहरा नहीं था, बहुत-सी मछलियाँ रहती थीं। उसी जलाशय में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और यद्भविष्य नामक तीन मत्स्य भी रहते थे। एक दिन कुछ मछुओं ने उस जलाशय में चारों ओर से नालियाँ बनाकर उनके द्वारा उसका पानी आस-पास की नीची भूमि में निकालना आरम्भ कर दिया। सरोवर के पानी को घटता देखकर अनागतविधाता ने सब मछलियों को बुलाकर कहा—"बन्धुओ! प्रतीत होता है कि इस जलाशय में रहनेवाली सभी मछलियों और मत्स्यों पर संकट आ पहुँचा है, अतः जबतक हमारे निकलने का मार्ग अवरुद्ध न हो जाए तबतक शीघ्र ही हमें यहाँ से अन्यत्र चले जाना चाहिए।" यह सुनकर यद्भविष्य बोला—"मित्र! तुमने बात तो ठीक कही है परन्तु मेरा दृढ़ विचार है कि अभी हमें जल्दी नहीं करनी चाहिए।" तत्पश्चात् प्रत्युत्पन्नमति ने कहा—"मित्र! जब समय आ जाता है, तब मेरी बुद्धि कोई-न-कोई युक्ति निकाल लेने में कभी नहीं चूकती।"

यह सब सुनकर अनागतविधाता तो एक नाली द्वारा वहाँ से निकलकर किसी दूसरे गहरे सरोवर में चला गया। उधर जब मछुओं ने देखा कि जलाशय का पानी निकल चुका है, तब उन्होंने अनेक उपायों द्वारा वहाँ की सब मछलियों को फँसा लिया। यद्भविष्य भी अन्य मत्स्यों के साथ जाल में फँस गया। जब मछुए रस्सी खींचकर मछलियों से भरे हुए उस जाल को उठाने लगे, तब प्रत्युत्पन्नमति भी उन्हीं मत्स्यों के भीतर घुसकर जाल में बँध-सा गया। वह जाल मुख से पकड़ने योग्य था, अतः उसकी ताँत को मुँह में लेकर वह भी अन्य मछलियों की भाँति बँधा हुआ प्रतीत होने लगा। उस जाल को लेकर वे मछुए जब दूसरे अगाध जलवाले सरोवर पर पहुँचे और उन मछलियों को धोने लगे, उसी समय प्रत्युत्पन्नमति मुख से पकड़ी हुई जाल की

रस्सी को छोड़कर उसके बन्धन से मुक्त हो गया और जल में समा गया परन्तु यद्भविष्य अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

तात्पर्य यह कि जो मनुष्य मोहवश अपने सिर पर आये हुए काल को नहीं समझ पाता वह यद्भविष्य नामक मत्स्य की भाँति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥७॥

शब्दार्थ—**राज्ञि** राजा के **धर्मिणि** धर्मात्मा होने पर **धर्मिष्ठाः** प्रजा भी धार्मिक होती है। **पापे** राजा के पापी होने पर **पापाः** प्रजा भी पाप-परायण होती है और **समे** राजा के उदासीन होने पर **समाः** प्रजा भी उदासीन होती है, क्योंकि प्रजा **राजानम्** राजा का **अनुवर्तन्ते** अनुसरण करती है, **यथा** जैसा **राजा** राजा होता है **तथा** वैसी ही **प्रजाः** प्रजा भी हो जाती है।

भावार्थ—राजा के धार्मिक होने पर प्रजा धर्मपरायण, राजा के पापी होने पर प्रजा पापी तथा राजा के उदासीन होने पर प्रजा भी उदासीन होती है। प्रजा राजा का अनुसरण करती है, जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा भी हो जाती है।

विमर्श—यदि राजा दुर्बल, शासन करने में असमर्थ, पापाचारी, भ्रष्टाचारी और शासन-तन्त्र को चलाने में अक्षम होता है तो शासक-वर्ग [अधिकारी-गण] को प्रजा को लूटने का अच्छा अवसर मिल जाता है—

राजा राक्षसरूपेण व्याघ्ररूपेण मन्त्रिणः।
सेवकाः श्वानरूपेण यथा राजा तथा प्रजाः॥

जब राजा राक्षस होता है तब मन्त्रिगण व्याघ्र के समान होते हैं और सेवक [कर्मचारी-गण] कुत्ते के समान होते हैं। जैसा राजा होता है, प्रजा भी वैसी ही हो जाती है।

इसके विपरीत यदि शासक बलवान्, शासन करने में समर्थ और धार्मिक होगा तो नीचे के लोग भी अपने कार्य को ठीक प्रकार से करेंगे। श्रीकृष्णजी ने ठीक ही कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

—गीता ३।२१

श्रेष्ठपुरुष जैसा आचरण करता है, संसार के साधारण मनुष्य भी वैसा ही व्यवहार करते हैं, जिस बात को महापुरुष प्रमाण, आदर्श मानकर चलता है, संसार उसी आदर्श का अनुकरण करता है।

महाभारत में तो यहाँ तक कहा है—

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च॥

—महा० शान्ति० १४१।९

हे महाबाहो! प्रजा के योगक्षेम [अप्राप्ति की प्राप्ति और प्राप्त का रक्षण], पृथिवी पर सुवृष्टि [यथावश्यकता प्रभूत वर्षा], व्याधि, मृत्यु और भय—इन सबका मूलकारण राजा ही है।

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनाः॥

—वा० रामा० उत्तर० ७३।१६

राजा के दोष से जब प्रजा का विधिवत् पालन नहीं होता, तब प्रजावर्ग विपत्तियों में फँस जाता है। राजा के दुराचारी होने पर ही प्रजा की अकालमृत्यु होती है।

आत्रेयजी ने अग्निवेश से कहा—

यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधानाः धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति॥ —चरक, विमान० ३।२०

जब देश [Province or State] नगर, [City], निगम [Corporation], जनपद [District] के प्रधान धर्म को त्यागकर अधर्म से प्रजाओं के साथ व्यवहार करते हैं, तब उस प्रधान के आश्रित और उपाश्रित [कर्मचारी और नौकर], नगर और ग्राम के लोग तथा व्यापारी उस अधर्म को और अधिक बढ़ाते हैं।

जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः॥८॥

शब्दार्थ—**धर्मवर्जितम्** धर्म से रहित **देहिनम्** शरीरधारी मनुष्य को **जीवन्तम्** जीवित रहने पर भी मैं [चाणक्य] **मृतवत्** मरे हुए के समान ही **मन्ये** मानता हूँ। **धर्मेण** धर्म से **संयुक्तः** युक्त [धार्मिक मनुष्य] **मृतः** मरने पर भी **दीर्घजीवी** दीर्घजीवी होता है, **न संशयः** इस विषय में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि उसकी कीर्ति सदा अमर रहती है।

भावार्थ—मैं धर्मरहित मनुष्य को मरे हुए के समान समझता हूँ। धार्मिक मनुष्य मरने के पश्चात् भी जीवित रहता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, क्योंकि उसकी कीर्ति अमर रहती है, ऐसे धार्मिक मनुष्य के जीवन को ही सुजीवन समझना चाहिए।

विमर्श—धार्मिक बनो। अग्नि का धर्म है—ताप, उष्णता, दाहकता। यदि अग्नि में से उसका दाहकतारूपी गुण निकल जाए तो वह अग्नि नहीं रहती। उसे उठाकर घूरे [कूड़े के ढेर] पर फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य में मानवतारूपी धर्म नहीं है तो वह भी मृतक के समान ही है, अतः वेद का सन्देश है—

मनुर्भव। —ऋ० १०।५३।६

हे मानव! तू मनुष्य बन।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

शरीर नाशवान् है, धन-सम्पत्ति भी सदा रहनेवाली नहीं है, मृत्यु सिरहाने खड़ी है, अतः धर्म का संग्रह करना चाहिए।

धर्मो माता पिता चैव धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा।
धर्मः स्वर्गस्य सोपानं धर्मात्स्वर्गमवाप्यते॥

धर्म माता है, धर्म पिता है, धर्म ही बन्धु और सच्चा मित्र है। धर्म ही स्वर्ग की सीढ़ी है, धर्म से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥९॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिस मनुष्य के पास **धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणाम्** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में से **एकः** एक **अपि** भी **न** नहीं **विद्यते** होता **तस्य** उसका **जन्म** जन्म **अजा-गल-स्तनस्य इव** बकरी के गले में लटकनेवाले स्तनों की भाँति **निरर्थकम्** व्यर्थ और निष्फल है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में से एक भी नहीं है, उसका जन्म ऐसे ही व्यर्थ और निष्फल है जैसे बकरी के गले में लटकनेवाले स्तन, जिनसे न तो दूध निकलता है और न गले की शोभा ही होती है।

विमर्श—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। मनुष्य

को धर्मपूर्वक अर्थ [धन] का उपार्जन करते हुए उस शुद्ध, पवित्र धन से काम का उपभोग [इष्ट कामनाओं का भोग, गृहस्थ धर्म का पालन] करते हुए अन्त में जीवन के चरम और परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। मनुष्य चारों पदार्थों को पाने का प्रयत्न करे। यदि चारों को प्राप्त न कर सके तो तीन, दो अथवा किसी एक को तो अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

धार्मिक बनो, धर्म का आचरण करो। बालक हकीकत राय की भाँति धर्म के लिए अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दो।

धार्मिक न बन सको तो अर्थ का उपार्जन करो। धनकुबेर बनो। आवश्यकता पड़ने पर भामाशाह की भाँति अपना सम्पूर्ण धन देश, धर्म, जाति, संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए लुटा दो।

अथवा इतना पुरुषार्थ तो करो कि अपनी इष्ट कामनाओं को भोग सको। आदर्श गृहस्थी बनो। समाज को अपने प्रतिनिधि के रूप में सुयोग्य नागरिक [उत्तम सन्तान] प्रदान करो।

यदि इन तीनों में से किसी भी पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सके तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करो। इसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति हो जाए, ऐसा उद्योग करो।

जिस मनुष्य के जीवन में इन चारों में से एक गुण भी नहीं है, उसका जन्म निरर्थक और निष्फल ही है।

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः पर-यशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते ॥१०॥

शब्दार्थ—**नीचाः** नीच मनुष्य **परयशः** दूसरे की कीर्तिरूपी **सुतीव्रेण** अत्यन्त प्रचण्ड **अग्निना** अग्नि से **दह्यमानाः** जलते हुए जब **तत्** उस **पदम्** पद [गौरव, महिमा] को **गन्तुम्** प्राप्त करने में **अशक्ताः** असमर्थ होते हैं **ततः** तब उस [गुणी] की **निन्दाम्** निन्दा **प्रकुर्वते** करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

भावार्थ—दुर्जन दूसरे की कीर्तिरूपी अग्नि से जलते हुए जब उस पद को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, तब वे उस गुणी की निन्दा करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

विमर्श—नीच किसे कहते हैं? भविष्यपुराण में नीच का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

वदत्यन्यत्करोत्यन्यद् गुरुदेवाग्रतो यतः।
स नीच इति विज्ञेयो ह्यनाचारस्तथापरः॥

—भविष्य० मध्यम० प्रथमभा० ५।६८

जो गुरु, माता-पिता, आचार्य और विद्वानों के समक्ष कहता कुछ और है और करता कुछ और है तथा अनाचार में तत्पर रहता है, उसे 'नीच' जानना चाहिए।

निन्दा क्या है? महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निन्दा और स्तुति की परिभाषा इस प्रकार की है—

'गुणेषु दोषारोपणमसूया' अथवा **'दोषेषु गुणारोपणमसूया'** तथा **'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'**—जो गुणों में दोष अथवा दोषों में गुण लगाना है वह निन्दा और गुणों में गुण तथा दोषों में दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है अर्थात् मिथ्या-भाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है।

—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

नीच मनुष्य दूसरों की बढ़ती हुई कीर्ति से जलकर उनके सम्बन्ध में मनमाने दोष लगाने लगता है।

बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥११॥[1]

शब्दार्थ—**मनुष्याणाम्** मनुष्यों का **मनः** मन **एव** ही **बन्धमोक्षयोः** बन्धन और मोक्ष का **कारणम्** कारण है। **विषया+आसक्तम्** रूप, रस, गन्ध आदि विषयों में आसक्त मन **बन्धाय** मनुष्य के बन्धन का कारण है और **निर्विषयम्**=विषयों से रहित **मनः** मन **मुक्त्यै** मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है।

भावार्थ—मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में फँसा हुआ मन मनुष्य के बन्धन का कारण होता है और विषय-वासनाओं से शून्य मन मनुष्य के मोक्ष का कारण होता है।

विमर्श—मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है, अतः मन को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

१. यह श्लोक पाठभेद और पक्तिविपर्यय से मैत्रायण्युनिषद् [६।३४] में उपलब्ध है। वहाँ नीचेवाली पंक्ति ऊपर है और ऊपरवाली नीचे।

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥

—मुक्तिकोपनि० २।४२

हाथ को हाथ से भींचकर, दाँतों को दाँतों से पीसकर और अङ्गों को अङ्गों से आक्रान्त करके अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ से सर्वप्रथम मन को जीतना चाहिए।

मन को वश में कैसे किया जाए, इस सम्बन्ध में कहा गया है—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासङ्गपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्तु युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥

—मुक्तिको० २।४४-४५

अध्यात्मविद्या का अभ्यास, श्रेष्ठपुरुषों की सङ्गति, वासनाओं का परित्याग और प्राणों का निरोध [प्राणायाम]—ये चार बलवान् युक्तियाँ मन को जीतने में समर्थ होती हैं।

संसार-कूप से निकलने के लिए मन को समझाओ—

पतितः पशुरपि कूपे निःसर्तुं चरणचालनं कुरुते।
धिक् त्वां चित्त भवाब्धेरिच्छामपि नो बिभर्षि निःसर्तुम्॥

कुए में गिरा हुआ पशु भी उसमें से निकलने के लिए पैर चलाता है, प्रयत्न करता है, परन्तु हे मन! तुझे धिक्कार है, तू भवसागर से निकलने की इच्छा भी नहीं करता।

मनः कुत्रोद्योगः सपदि वद मे गम्यपदवीं
नरे वा नार्य्यां वा गमनमुभयत्राप्यनुचितम्।
यतस्ते क्लीबत्वं प्रतिपदमहो हास्यपदवीं
जनस्तोमे मा गास्त्वमनुसर हि ब्रह्मपदवीम्॥

हे मन! कहाँ जाने की तैयारी है? तनिक बताइए तो किधर जा रहे हैं आप? क्या किसी मनुष्य पर आपकी दृष्टि पड़ी है अथवा किसी नायिका पर मुग्ध हो गये हो? परन्तु तुम्हारा दोनों स्थानों पर जाना अनुचित है, क्योंकि तुम ठहरे नपुंसक [संस्कृत व्याकरण के अनुसार मन नपुंसकलिङ्ग है], जहाँ जाओगे, वहीं तुम्हारी हँसी उड़ेगी। तुम मनुष्यों की भीड़ में मत जाओ। तुम ब्रह्म के पास जाओ, क्योंकि ब्रह्म भी नपुंसक है, वहीं पर तुम्हारा ठीक गुजारा [निर्वाह] होगा। नपुंसक की नपुंसक के साथ ठीक पटती है। भाव यह है कि विषय-वासनाओं

को त्यागकर ब्रह्म में लग जाओ।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥१२॥

शब्दार्थ—**देह+अभिमाने** देह के अभिमान का **गलिते** नाश हो जाने पर और अपने आप को **परमात्मनि** परमात्म-निष्ठ **विज्ञाते** जान लेने पर **यत्र-यत्र** जहाँ-जहाँ **मनः** मन **याति** जाता है, **तत्र-तत्र** वहाँ-वहाँ ही **समाधयः** समाधि समझनी चाहिए।

भावार्थ—देह के अभिमान का नाश और परमात्म-निष्ठ हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही समाधि समझनी चाहिए।

विमर्श – देह का अभिमान नहीं करना चाहिए। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर है—

शरीरमामादपि मृन्मयाद् घटादिदं तु निःसारतमं मतं मम।
चिरं हि तिष्ठेद् विधिवद्धृतो घटः समुच्छ्र्योऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते ॥

इस शरीर में बल का लेश भी नहीं है। इसे व्याधि, जरा और मृत्युरूपी शत्रुओं ने बुरी तरह से घेर रखा है। यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान क्षणभङ्गुर है। मेरा तो दृढ़ मत है कि शरीर मिट्टी के घड़े से भी निःसार है। यदि घड़े को ठीक-ठाक काम में लाएँ तो वह बहुत दिन तक ठहर सकता है, परन्तु इस शरीर को अच्छी प्रकार रखने पर भी यह टूट जाता है, ठहर नहीं सकता।

शरीर की इस क्षणभङ्गुरता का बोध होने पर तथा परमात्म-निष्ठ हो जाने पर मनुष्य का मन जहाँ-जहाँ जाता है, उसके लिए वहीं-वहीं समाधि है।

ईप्सितं मनसः सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम् ।
दैवाऽऽयत्तं यतः सर्वं तस्मात्सन्तोषमाश्रयेत् ॥१३॥

शब्दार्थ—**मनसः** मन का **ईप्सितम्** चाहा हुआ **सर्वम्** सब **सुखम्** सुख **कस्य** किसको **सम्पद्यते** प्राप्त होता है, **यतः** क्योंकि **सर्वम्** सब-कुछ **दैव+आयत्तम्** दैव=भाग्य के अधीन है, **तस्मात्** इसलिए **सन्तोषम्** सन्तोष का **आश्रयेत्** आश्रय लेना चाहिए।

भावार्थ—सभी मनोरथ किसी के भी पूर्ण नहीं होते, क्योंकि सब-कुछ दैव=भाग्य के अधीन है, अतः सन्तोष धारण करना चाहिए।

विमर्श—सन्तोष ही सुख का मूल है, अतः सन्तोष धारण करना

चाहिए—

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। —यो० द० २।४२

सन्तोष से अनुत्तम सुख [जिससे बढ़कर और कोई सुख न हो] प्राप्त होता है।

महर्षि मनु का कथन है—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ —मनु० ४।१२

सुख के इच्छुक को सन्तोष का सहारा लेकर अपने आपको संयम में रखना चाहिए, क्योंकि सन्तोष सुख का मूल [जड़] और असन्तोष दुःख का कारण है।

असन्तोषं परमं दुःखं सन्तोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् सन्तुष्टः सततं भवेत्॥ —गौतम०

असन्तोष सबसे बढ़कर दुःख है और सन्तोष सबसे बढ़कर सुख है, अतः सुख चाहनेवाले मनुष्य को सदा सन्तुष्ट रहना चाहिए।

कबीरदास ने कहा है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोषधन, सब धन धूरि समान॥

और—

चाह गई चिन्ता मिटी मनवाँ बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सो साहन के साह॥

तुलसीदास ने भी ठीक ही कहा है—

बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥१४॥

शब्दार्थ—**यथा** जैसे **धेनुसहस्रेषु** सहस्रों गौवों में भी **वत्सः** बछड़ा **मातरम्** अपनी माता के पास ही **गच्छति** जाता है, अपनी माता को पहचान लेता है **तथा** उसी प्रकार **च** निश्चय ही **यत्** जो **कृतम्** किया हुआ **कर्म** कर्म होता है वह **कर्तारम्** कर्म करनेवाले के **अनुगच्छति** पीछे-पीछे चलता है।

भावार्थ—जैसे सहस्रों गौओं में भी बछड़ा अपनी माता को पहचान-

कर उसी के पास जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह भी उसके पीछे-पीछे चलता है अर्थात् मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

विमर्श—मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है—

जो औरों को दुःख पहुँचाते सुख से न उन्हें बसते देखा।
जो औरों का जी तड़पाते उनको न कभी हँसते देखा॥

महर्षि व्यास लिखते हैं—

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

—महा० अनु० ६।१०

शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है, बिना किये हुए कर्म का फल नहीं भोगा जाता।

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम्॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते॥

—महा० शान्ति० १८१।८-९

जिस-जिस मनुष्य ने जैसा-जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्म-कर्ता शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह कर्म भी उतने ही वेग से उसके पीछे भागता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह कर्म भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तो वह कर्म भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई भी कार्य करते हुए कर्म-संस्कार उसका पीछा नहीं छोड़ता, सदा छाया के समान उसके पीछे लगा रहता है।

वेद में कहा है—

पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति। —अथर्व० १२।३।४८

पकानेवाले को पका हुआ भोजन ही आ मिलता है अर्थात् मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है, जैसा बोता है, वैसा ही काटता है।

अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम् ।
जने दहति संसर्गो वने सङ्गविवर्जनम् ॥१५॥

शब्दार्थ—**अनवस्थित-कार्यस्य** अव्यवस्थित कर्म [अस्थिर चित्त से कार्य] करनेवाले मनुष्य को **न** न **जने** जनसमाज में **सुखम्** सुख मिलता है और **न** न ही **वने** वन में सुख मिलता है, क्योंकि **जने** जन-समाज में **संसर्गः** संसर्ग [लोगों से मेल-मिलाप] उसे **दहति** जलाता है और **वने** वन में **सङ्गविवर्जनम्** एकाकी रहने के कारण जलता है, दुःखी रहता है।

भावार्थ—अव्यवस्थित कर्म करनेवाले को न तो जनसमाज में सुख मिलता है और न वन में। जनसमाज में मनुष्यों का संसर्ग उसे जलाता है और वन में एकाकी रहने के कारण वह दुःखी रहता है।

यथा खात्वा खनित्रेण भूतले वारि विन्दति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१६॥

शब्दार्थ—**यथा** जैसे **खात्वा** खोदनेवाला **खनित्रेण** फावड़े, कुदाल आदि खोदने के साधन द्वारा **भूतले** पाताल से भी **वारि** जल को **विन्दति** प्राप्त कर लेता है **तथा** वैसे ही **गुरुगताम्** गुरु के पास होनेवाली **विद्याम्** विद्या को **शुश्रूषुः** सेवा करनेवाला शिष्य ही **अधिगच्छति** प्राप्त करता है।

भावार्थ—जैसे भूमि खोदनेवाला फावड़े आदि के द्वारा भूमि को खोदकर उसमें से जल प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार गुरुगत विद्या को सेवा करनेवाला विद्यार्थी ही प्राप्त कर पाता है।

विमर्श—विद्या-प्राप्ति के उपायों में सर्वप्रथम उपाय गुरु-सेवा ही है—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते ॥

—चाणक्य-सार-संग्रह १।३६

विद्या की प्राप्ति या तो गुरु-सेवा से हो सकती है अथवा बहुत बड़ी धन-राशि द्वारा विद्या अर्जित की जा सकती है अथवा विद्या के द्वारा [एक विद्या पढ़ाकर दूसरी विद्या पढ़ना] विद्या की प्राप्ति हो सकती है, चौथा कोई प्रकार नहीं है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधयश्चाऽऽर्याः सुविचार्यैव कुर्वते ॥१७॥

शब्दार्थ—**फलम्** कर्मफल **कर्म+आयत्तम्** कर्म के अधीन रहता है और **पुंसाम्** मनुष्यों की **बुद्धिः** बुद्धि **कर्मानुसारिणी** कर्म के अनुसार ही चलती है **तथा+अपि** फिर भी **सुधयः** विद्वान् **च** और **आर्याः** सज्जन, श्रेष्ठ मनुष्य **सुविचार्य** भली-भाँति सोच-विचार कर **एव** ही **कुर्वते** कार्य करते हैं।

भावार्थ—मनुष्यों को फल कर्मों के अनुसार मिलता है और बुद्धि भी कर्मों के अनुसार ही चलती है, फिर भी विद्वान् और सज्जन लोग भली-भाँति सोच-विचार कर ही किसी कार्य को करते हैं।

विमर्श—प्रत्येक बात को अच्छी प्रकार सोच-समझकर, आगा-पीछा देखकर, हानि-लाभ विचारकर करना चाहिए—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

—किरात० २।३०

बिना सोचे-विचारे, एकाएक किसी कार्य को आरम्भ नहीं करना चाहिए। अविवेक=सम्यक् विचार न करना विपत्तियों का कारण है। गुणों पर अपने आपको समर्पण करनेवाली सम्पत्तियाँ विचारशील पुरुष का स्वयं वरण करती हैं—इस तथ्य को समझते हुए सुधीजन एवं आर्यपुरुष सोच-विचार कर ही किसी कार्य को करते हैं।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवन्दति ।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते ॥१८॥

शब्दार्थ—**यः** जो **एक-अक्षर-प्रदातारम्** एक अक्षर का भी ज्ञान करानेवाले अथवा एक=अद्वितीय अक्षर=अविनाशी परमेश्वर का ज्ञान प्रदान करनेवाले **गुरुम्** गुरु को **न+अभि+वन्दति** नमस्कार नहीं करता, उसका चरणवन्दन, आदर-सत्कार नहीं करता वह **श्वानयोनि-शतम्** कुत्ते की सौ योनियों को **भुक्त्वा** भोगकर अर्थात् सौ बार कुत्ते का जन्म लेकर **चाण्डालेषु** चाण्डालों में **अभिजायते** उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य थोड़े-से भी ज्ञान देनेवाले अथवा अद्वितीय तथा अविनाशी परमेश्वर का ज्ञान देनेवाले गुरु का मान-सम्मान नहीं करता, उसे प्रणाम नहीं करता, वह सौ बार कुत्ते का जन्म भोगकर

अन्त में चाण्डाल परिवारों में उत्पन्न होता है।

विमर्श—गुरु की निन्दा करना तो दूर गुरु की निन्दा सुननी भी नहीं चाहिए—

गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

—मनु० २।२००

जहाँ गुरु की बुराई अर्थात् गुरु में विद्यमान दोषों का वर्णन अथवा निन्दा अर्थात् गुरु में अविद्यमान दोषों का कथन होता हो, वहाँ शिष्य को अपने कान बन्द कर लेने चाहिएँ अथवा वहाँ से अन्यत्र चला जाना चाहिए।

श्लोक का उत्तरार्द्ध वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। एक जन्म के कर्मों का फल अनेक योनियाँ नहीं हो सकतीं। एक बात और, मनुष्य सत्त्व, रजस् और तमस् कर्मों की अधिकता वा न्यूनता के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम अथवा मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर आदि योनियों को प्राप्त करता है, केवल किसी एक कर्म से नहीं।

प्राणशून्य और अतिशयोक्तिपूर्ण होने के कारण उत्तरार्द्ध सिद्धान्त विरुद्ध है।

युगान्ते प्रचलते मेरुः कल्पान्ते सप्त सागराः।
साधवः प्रतिपन्नार्थान् न चलन्ति कदाचन॥१९॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

शब्दार्थ—**युगान्ते** युग के अन्त में **मेरुः** सुमेरु पर्वत **प्रचलते** चलायमान हो जाता है और **कल्पान्ते** कल्प के अन्त में **सप्त सागराः** सातों समुद्र भी मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं परन्तु **साधवः** साधुजन, श्रेष्ठ पुरुष **प्रतिपन्न+अर्थान्** अपने हाथ में लिये हुए कार्य से, अपनी की हुई प्रतिज्ञा से **कदाचन** कभी भी **न चलन्ति** विचलित नहीं होते।

भावार्थ—युग के अन्त में सुमेरु पर्वत चलायमान हो जाता है, कल्प के अन्त में सातों समुद्र भी अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं परन्तु श्रेष्ठ पुरुष अपने हाथ में लिये हुए कार्य से अथवा अपना की हुई प्रतिज्ञा से कभी भी विमुख नहीं होते।

विमर्श—सज्जन अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते—

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।

विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम् ॥

चाहे सूर्य पश्चिम दिशा से उदित हो जाए, चाहे मेरु पर्वत अपने स्थान से विचलित हो जाए, चाहे अग्नि अपनी शीतलता को त्याग दे और चाहे पर्वत के अग्रभाग में शिला पर पद्मपत्र=कमल खिल जाए परन्तु सज्जन जो प्रतिज्ञा कर लेते हैं, उसे नहीं छोड़ सकते अर्थात् उनकी वाणी अन्यथा नहीं हो सकती।

सज्जन अपने हाथ में लिये हुए, आरम्भ किये हुए कार्य को भी नहीं छोड़ते—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

—भर्तृ० नीति० २६

नीच=अधम श्रेणी के पुरुष विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के लोग कार्य को आरम्भ तो कर देते हैं। परन्तु विघ्नों से विचलित होकर बीच में ही छोड़ देते हैं किन्तु उत्तम श्रेणी के लोग विघ्नों द्वारा बार-बार ताड़ित किये जाने पर भी आरम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण किये बिना नहीं छोड़ते।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
तेरहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते ।।१।।

शब्दार्थ—**पृथिव्याम्** पृथिवी पर **त्रीणि** तीन ही **रत्नानि** रत्न हैं—**जलम्** जल, **अन्नम्** अन्न और **सुभाषितम्** प्रियवचन अथवा नीतिवाक्य, सूक्ति, good sayings परन्तु **मूढैः** मूर्खों द्वारा **पाषाणखण्डेषु** पत्थर के टुकड़ों को **रत्नसंज्ञा** रत्न का नाम **विधीयते** दिया गया है।

भावार्थ—पृथिवी पर जल, अन्न और सूक्तियाँ—ये तीन ही रत्न हैं परन्तु मूर्ख लोग पत्थर के टुकड़ों को ही रत्न कहते हैं।

विमर्श—जल जीवन है, अतः यह रत्न है—

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम् ।
न हि तोयाद्विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा ।।

—अष्टांगसंग्रह

जल जीवसृष्टि का प्राण है और सारा विश्व जलमय ही है। चाहे स्वस्थ मनुष्य हो या रोगी, जल के बिना किसी का जीवन सम्भव नहीं है।

अपां संस्पर्शनात् स्नानात् पानाद् दर्शनतोऽपि वा ।
मनुष्याः सिद्धिमायान्ति बाह्याभ्यन्तरक्षालिताः ।।

—पद्मपुराण

[आवश्यकतानुसार ठण्डे अथवा गरम] जल के स्पर्श से, स्नान से, पीने से तथा उसके दर्शन से भी अन्दर और बाहर से शुद्ध हुए मनुष्य [अपने रोग-निवारण आदि कार्यों में] सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

अन्न भी रत्न है। अन्न की प्रशंसा में ठीक ही कहा गया है—

अन्नं वै प्राणिनां प्राणा अन्नमोजो बलं सुखम् ।
एतस्मात् कारणात्सद्भिरन्नदः प्राणदः स्मृतः ।।

—भविष्य० उत्तर० १६६।३०

अन्न प्राणियों का प्राण=जीवन है। अन्न ही ओज, बल और सुख है। इसलिए सज्जन अन्न देनेवाले को प्राणदाता कहते हैं।

सुभाषित की प्रशंसा में ठीक ही कहा गया है—

द्राक्षा म्लानमुखी जाता शर्करा चाश्मतां गता।
सुभाषितरसस्याग्रे सुधा भीता दिवं गता॥

सुभाषितरस के समक्ष अंगूरों का मुख मुर्झा गया, मिश्री पत्थर के समान हो गई और अमृत भयभीत होकर स्वर्ग में चला गया।

आत्माऽपराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च॥२॥

शब्दार्थ—**दारिद्र्य-रोग-दुःखानि** दरिद्रता, शारीरिक और मानसिक रोग एवं दुःख **च** और **बन्धन-व्यसनानि** बन्धन तथा विपत्तियाँ—**एतानि** ये सब **देहिनाम्** जीवों के, शरीरधारियों के **आत्म-अपराध-वृक्षस्य** अपने पापरूप वृक्ष के **फलानि** फल हैं।

भावार्थ—दरिद्रता, रोग, दुःख, बन्धन और आपत्तियाँ—ये सब मनुष्यों के अपने ही अधर्मरूपी वृक्ष के फल हैं।

विमर्श—पूर्वजन्म में किये हुए पापों का फल वर्तमान जन्म में रोग, दुःख आदि के रूप में मिलता है—

व्याधिर्वित्तनाशः प्रियविरहो दुर्भगत्वमुद्वेगः।
सर्वत्राशाभङ्गः स्फुटं भवति ह्यकृतपुण्यस्य॥

—शाङ्र्गधरपद्धति

रोग, धन का नाश, प्रिय व्यक्ति का वियोग, कुरूपता, चित्त का उद्वेग और सब कार्यों में निराशा [सर्वत्र असफलता]—ये सब उसके यहाँ प्रकट होते हैं, जिसने पूर्वजन्म में पुण्य नहीं किया है।

कर्मजा हि शरीरेषु रोगाः शरीरमानसाः।
शरा इव पतन्तीह विमुक्ता दृढधन्विभिः॥

—सुभाषितावलि

अपने पूर्वजन्म के पाप कर्मों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाले शारीरिक और मानसिक रोग मनुष्यके शरीर पर ठीक वैसे ही आक्रमण किया करते हैं जैसे सिद्धहस्त धनुर्धारी द्वारा छोड़े गये बाण ठीक लक्ष्य पर जाकर गिरते हैं।

यद्वयङ्गाः कुष्ठिनश्चान्धाः पङ्गवश्च दरिद्रिणः ।
पूर्वोपार्जितपापस्य फलमश्नन्ति देहिनः ॥

—भोजप्रबन्ध १९१

अङ्गहीन, कोढ़ी, अन्धे, लंगड़े तथा दरिद्री लोग वास्तव में अपने पूर्वजन्मार्जित पापों का फल ही भोग रहे होते हैं।

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥

—स्मृतिरत्नाकर

पूर्वजन्म में किया हुआ पाप इस जन्म में व्याधि के रूप में पीड़ा देता है। उसकी शान्ति ओषधियों तथा दान, तप, जप, होम, पूजापाठ आदि द्वारा हुआ करती है।

"पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के बिना उत्तम, मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धि आदि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदा० पुर्नजन्म०

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही ।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः ॥३॥

शब्दार्थ—**वित्तम् पुनः** नष्ट हुआ धन पुनः मिल जाता है, **मित्रम् पुनः** एक मित्र से मित्रता टूट जाने पर दूसरा मित्र मिल जाता है अथवा वियुक्त हुए मित्र से पुनः मैत्री हो जाती है, **भार्या पुनः** स्त्री भी पुनः मिल सकती है, दूसरा विवाह हो सकता है, **मही पुनः** भूसम्पत्ति [जमीन-जायदाद], देश, राज्य फिर मिल सकते हैं—**एतत्** ये **सर्वम्** सब **पुनः** बारम्बार **लभ्यम्** प्राप्त हो सकते हैं परन्तु **शरीरम्** मानव-शरीर **पुनः-पुनः** बार-बार **न** नहीं मिलता।

भावार्थ—धन, मित्र, स्त्री, भूसम्पत्ति, देश, राज्य—ये सब बार-बार मिल सकते हैं परन्तु मनुष्य-शरीर बार-बार नहीं मिलता।

विमर्श—मानवजन्म दुर्लभ है। कहा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

—विवेकाचूड़ामणि ३

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व [मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा] और महापुरुषों का सत्सङ्ग—ये तीनों ही दुर्लभ हैं। ये प्रभु-कृपा से ही प्राप्त होते हैं।

सन्त तुलसीदास ने भी कहा है—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।

—मानस, उत्तर०

बहूनां चैव सत्त्वानां समवायो रिपुञ्जयः।
वर्षधाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्यते ॥४॥

शब्दार्थ—**च** निश्चय **एव** ही **बहूनाम्** बहुत-से **सत्त्वानाम्** मनुष्यों का **समवायः** समुदाय **रिपुञ्जयः** शत्रु को भी जीत लेता है जैसे **वर्ष-धारा-धरः** वर्षा की धारा को धारण करनेवाला **मेघः** बादल **तृणैः अपि** तिनकों के समूह [छप्पर] द्वारा भी **निवार्यते** रोक दिया जाता है अर्थात् घास की झोंपड़ी के भीतर पानी नहीं पहुँचता।

भावार्थ—संगठित मनुष्यों का सम्मिलित बल शत्रु के छक्के छुड़ाकर उसे पराजित कर सकता है, जैसे मूसलाधार वर्षा के वेग को क्षुद्र तिनके संगठित होकर [छप्पर के रूप में आकर] रोक देते हैं।

विमर्श—संगठन में बड़ा बल है—

बहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः।
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यन्ते तेन दन्तिनः॥

—भोजप्रबन्ध १४५

बहुसंख्यक निर्बलों के समूह को भी पार करना कठिन हो जाता है। छोटे-छोटे तिनकों से बनी हुई रस्सी से हाथी भी बँध जाते हैं।

किसी हिन्दी-कवि ने भी उत्तम बात कही है—

एक-एक ही रहत है दूआ दूआ दीस।
शून्य-शून्य ही रहत है सब मिलकर एकसौ बीस॥
वृद्धि होत संयोग से हानि करत वियोग।
अङ्कगति सम जान लो हानि-वृद्धि सब लोग॥

वेद का सन्देश है—

मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्। —अथर्व० ६।३२।३

परस्पर लड़नेवाले मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

वेद माता का आदेश है—

सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

—ऋ० १०।१९१।२

तुम सब मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम सबके मन भी एक समान हों।

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥५॥

शब्दार्थ—**जले** जल में **तैलम्** तेल, **खले** दुष्ट, दुर्जन में **गुह्यम्** गुप्तवार्ता, **पात्रे** सुपात्र में **दानम्** दान [सत्पात्र को दिया गया दान] और **प्राज्ञे** बुद्धिमान् में **शास्त्रम्** शास्त्र—ये **मनाक्+अपि** थोड़े हों तो भी **वस्तुशक्तितः** वस्तु की शक्ति से **स्वयम्** स्वयं **विस्तारम्** विस्तार को **याति** प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—जल में तेल, दुष्टपुरुष में गुप्त रहस्य, सत्पात्र को दिया गया दान और बुद्धिमान् को दिया गया शास्त्रज्ञान—ये थोड़े होने पर भी वस्तु की शक्ति से स्वयं विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं।

विमर्श—जल में तेल की एक बूँद डालते ही वह सारे पानी पर फैल जाती है, ऐसा तेल की अपनी शक्ति के कारण ही होता है घी की बूँद डालते ही सिकुड़ जाती है।

खल=दुष्ट मनुष्य को कोई गुप्त भेद बता दिया जाए तो वह सर्वत्र उसकी घोषणा कर देगा। खल के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुल-द्वेषी स कुल-द्वेषी पुनः पिशुनः॥

'खल साँप से भी भयंकर होता है'—विद्वान् लोग जो ऐसा कहते हैं, यह बात झूठी नहीं है, क्योंकि साँप तो नकुल [नेवले से द्वेष करता है, अपने कुल से नहीं] परन्तु खल तो कुल-द्वेषी [अपने ही कुल से द्वेष करनेवाला] होता है।

जो अपने कुल से भी द्वेष करनेवाला होता है, वह दूसरे के गुप्त-रहस्य को कैसे छिपा सकता है?

सत्पात्र को दिया हुआ थोड़ा-सा दान महान् फल देनेवाला होता है। सत्पात्र को दिये हुए दान से मनुष्य की कीर्ति फैलती है।

बुद्धिमान् को दिया हुआ थोड़ा-सा भी ज्ञान विस्तार को प्राप्त हो जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को दिया हुआ दान कितना विस्तृत हो गया? उनकी कीर्ति देश की सीमाओं को लाँघकर विदेश में और सारे संसार में छा गई।

धर्माऽऽख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत्।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥६॥

शब्दार्थ—**धर्म-आख्याने** धर्म-सम्बन्धी कथा सुनने के समय **श्मशाने** श्मशान-भूमि में [किसी की अन्त्येष्टि में सम्मिलित होने पर] सर्व-सामान्य, साधारण मनुष्य की **च** और **रोगिणाम्** रोग उत्पन्न होने पर रोगियों की **या** जो **मतिः** मति, बुद्धि **भवेत्** होती है, **चेत्** यदि **सा** वह मति, वह ज्ञान **सर्वदा+एव** सदा ही **तिष्ठेत्** बना रहे तो **कः** कौन मनुष्य **बन्धनात्** संसार-बन्धन से **न मुच्येत** नहीं छूट जाए ?

भावार्थ—धर्म-कथा सुनने के समय, श्मशान भूमि में और रोगी होने पर मनुष्य में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, यदि वह बुद्धि सदा स्थिर रहे तो संसार-बन्धन से कौन नहीं छूट जाए ?

विमर्श—धर्म-सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनकर मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन होता है परन्तु वह क्षणिक होता है, यह बात व्यासजी के निम्न कथन से स्पष्ट है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

—महा० स्वर्गा० ५।६२

मैं दोनों हाथ उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्माचरण से मोक्ष तो मिलता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं फिर भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ?

श्मशान में मृत शरीरों को अग्नि में भस्म किया जाता है। जलती हुई चिता को देखकर संसार की क्षणभंगुरता का भान होता है। इससे भी स्वभाव-परिवर्तन होता है परन्तु होता यह भी क्षणिक ही है, अतः इसे श्मशान वैराग्य कहते हैं।

रोगग्रस्त होने पर मनुष्य में ईश्वरभक्त बनने की और रोगमुक्त होने पर फिर से रोग-पीड़ित न होने के लिए प्रयत्नशील रहने ही बुद्धि उत्पन्न होती है।

ये तीनों मनोवृत्तियाँ सदा बनी रहें तो कौन ऐसा मनुष्य है जो संसार-बन्धन से न छूट जाए ? परन्तु, व्याख्यान सुनकर मनुष्य सारे ज्ञान को वहीं छोड़ देता है, श्मशान से बाहर निकलते ही व्यापार की बातें सोचने लगता है और स्वस्थ होने पर मनुष्य ईश्वर तथा वैद्य दोनों को भूल जाता है।

उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी ।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यान्महोदयः ।।७।।

शब्दार्थ—**उत्पन्न-पश्चात्तापस्य** अशुभ, निन्दित कर्म करने के पश्चात् पछतानेवाले मनुष्य की **यादृशी** जैसी **बुद्धिः** बुद्धि **भवति** उत्पन्न होती है **यदि** यदि **तादृशी** वैसी बुद्धि **पूर्वम्** पहले ही **स्यात्** हो जाए तो **कस्य** किसका **महोदयः** मोक्ष **न स्यात्** न हो जाए ?

भावार्थ—अशुभ कर्म करने के पश्चात् पछतानेवाले मनुष्य की जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है, यदि वैसी ही बुद्धि पहले ही हो जाए तो किसको मोक्ष की प्राप्ति न हो जाए अर्थात् सबको हो जाए।

विमर्श—पश्चात्ताप शुद्धि का हेतु है। इससे मन की मैल धुल जाती है। यदि यह बुद्धि पापकर्म करने से पूर्व ही उत्पन्न हो जाए तो मनुष्य की मुक्ति होने में कोई सन्देह नहीं है। कबीरजी ने ठीक ही कहा है—

करता था तब क्यों किया, अब करि क्यों पछताय।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो न हि कर्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा ॥८॥

शब्दार्थ—**दाने** दानशीलता में, **तपसि** तप-अनुष्ठान में, **शौर्ये** शूरवीरता में, **विज्ञाने** विज्ञान में, **विनये** विनम्रता में **वा** और **नये** नीतिमत्ता में **विस्मयः** अभिमान **न** नहीं **कर्तव्यः** करना चाहिए, **हि** क्योंकि **वसुन्धरा** पृथिवी **बहुरत्ना** नाना प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण है अर्थात् दानशीलता, तपस्या आदि में एक-से-एक बढ़कर पुरुष विद्यमान हैं।

भावार्थ—दानशीलता, तपस्या, शूरवीरता, विज्ञान, विनम्रता और नीतिमत्ता में सबसे बड़ा होने का अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि पृथिवी पर एक-से-एक बढ़कर दानवीर, तपस्वी आदि विद्यमान हैं।

विमर्श—मैं बहुत बड़ा दानी हूँ, मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूँ, मैं सबसे बड़ा शूरवीर हूँ—इत्यादि अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि पृथिवी नररत्नों से भरपूर है।

एक बार राजा भोज ने विचार किया कि 'मेरे समान कोई भी दाता नहीं है।' उनके इस गर्व को जानकर मुख्यमन्त्री ने उन्हें विक्रमादित्य के दान की बही दिखाई। महाराजा भोज ने उसके एक पृष्ठ पर यह प्रसङ्ग देखा—महाराज विक्रमादित्य ने जल पीने की इच्छा से कहा—

स्वच्छं सज्जन-चित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसंजल्पवत् ।
एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम् ॥

सज्जनों के चित्त के समान स्वच्छ, दीन की व्यथा के समान हल्का, पुत्र के आलिङ्गन के समान शीतल, उसी प्रकार उसकी बाल्यकाल की तुतली वाणी के समान मधुर तथा इलायची, खस, लौंग, चन्दन, कपूर, कस्तूरी, जायफल, पाटल, केतकी आदि की सुगन्ध से सुवासित जल लाओ।

यह सुनकर चारण=भाट बोला—

वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण-एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेता क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत् कथय नरपते तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥

हे राजन् ! आपके मुखकमल में सरस्वती [वाणी, नदी] निवास करती है, आपका अधर सदा शोण [रक्त, नदी] बना रहता है। श्रीराम के पराक्रम की स्मृति दिलानेवाली आपकी दाहिनी भुजा दान करने के लिए सुवर्ण-मुद्राओं से भरा हुआ [मुद्रा सहित=समुद्र] है। ये वाहिनियाँ [सेनाएँ, नदियाँ] क्षणभर के लिए भी नहीं हटतीं। सरस्वती नदी, शोणनद और समुद्रजल से निर्मल हुए आपके हृदय में जल पीने की इच्छा कैसे उत्पन्न हो गई ?

तब विक्रमादित्य ने कहा—

अष्टौ हाटककोटियस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः
पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः ।
अश्वानामयुतं प्रपञ्चचतुरं दासीगणानां शतं
दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतिकमिदं वैतालिकायार्प्यताम् ॥

—भोजप्र० २२९-२३१

आठ करोड़ पल[1] सुवर्ण, तिरानवें तुला[2] मोती, अपने मद की गन्ध से भौंरों को भी मतवाले बना देनेवाले और क्रोध से उद्धत पाँच सौ हाथी, दस हजार घोड़े और एक सौ व्यवहार-दक्ष दासियाँ—ये सब

१. एक पल लगभग चालीस ग्राम का होता है २. एक तुला में सौ पल होते हैं।

वस्तुएँ पाण्ड्या नरेश विक्रमादित्य ने पुरस्कार रूप में चारण को प्रदान की हैं। ये सभी पदार्थ इसे अभी दे दिये जाएं।

यह विवरण पढ़कर महाराज भोज का गर्व खर्व=नष्ट हो गया।

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्थोऽपि दूरतः ॥९॥

शब्दार्थ—**यः** जो **यस्य** जिसके **मनसि** मन में **स्थितः** बसता है, रहता है वह **दूरस्थः** दूर होने पर **अपि** भी **दूरस्थः न** दूर नहीं है और **यः** जो **यस्य** जिसके **हृदये** हृदय में समाया हुआ **न+अस्ति** नहीं है वह **समीपस्थः** अतिनिकट रहता हुआ **अपि** भी **दूरतः** दूर ही रहता है।

भावार्थ—जो जिसके हृदय में बसा हुआ है, वह दूर रहने पर भी दूर नहीं है और जो जिसके मन में समाया हुआ नहीं है, वह अत्यन्त निकट रहने पर भी दूर ही रहता है।

विमर्श—पत्नी पीहर में रहती है परन्तु हर समय पति के ध्यान में डूबी रहती है, इस प्रकार पति दूर रहते हुए भी अत्यन्त समीप ही है। परमेश्वर अत्यन्त निकट है, इतना निकट जितना अपना श्वास, परन्तु जिसके हृदय में परमेश्वर के लिए प्रेम नहीं, आस्था नहीं, उसे पाने की तड़प नहीं, उसके लिए प्यार नहीं, ऐसे मनुष्य के लिए वह अत्यन्त दूर है। वेद में कहा है—

तद्दूरे तद्वन्तिके —यजु ४०।५

वह परमात्मा अधर्मात्मा, अयोगियों और अविद्वानों से दूर है और धर्मात्मा, विद्वान्, योगियों के वह अत्यन्त समीप है।

यस्य चाप्रियमिच्छेत[1] तस्य ब्रूयात् सदा प्रियम्।
व्याधो मृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम् ॥१०॥

शब्दार्थ—**च** निश्चय ही **यस्य** जिसका **अप्रियम्** अप्रियम्, बुरा करने की **इच्छेत** वाञ्छा, चाहना, इच्छा हो **तस्य** उसके साथ **सदा** सर्वदा **प्रियम्** मधुर **ब्रूयात्** बोलना चाहिए, जैसे **व्याधः** शिकारी **मृगवधम्** हिरन का वध **कुर्तुम्** करने के लिए **सुस्वरम्** मधुरस्वर से **गीतम्** गीत **गायति** गाता है।

---

१. पाठभेद —**यस्माच्च प्रियमिच्छेत**—अर्थ होगा—जिससे अपना प्रिय कराने की अभिलाषा हो।

भावार्थ—जिसका अप्रिय करने की इच्छा हो उससे सदा मधुर-भाषण करना चाहिए जैसे शिकारी हिरन का शिकार करने के लिए पहले मधुर स्वर से गीत गाता है [और जब गीत के स्वर पर मस्त होकर हिरन निकट आ जाता है, तब उसे पकड़ लेता है]।

विमर्श—जिसका अप्रिय करने की इच्छा हो उसके साथ मधुर व्यवहार, मधुर आलाप आदि करके उसे अपने वश में कर लेना चाहिए और समय पाकर उसका नाश कर डालना चाहिए।

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्ययः।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥

—महा० आदि० १३९।२१

जबतक समय अपने अनुकूल न हो तबतक शत्रु को अपने कन्धे पर ढोना चाहिए, उसका आदर-सत्कार करना चाहिए परन्तु जब समय अपने अनुकूल आ जाए तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटककर फोड़ डालते हैं।

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः।
सेवितव्यं मध्यभागेन राजा वह्निर्गुरुः स्त्रियः ॥११॥

शब्दार्थ—राजा राजा, **वह्निः** अग्नि, **गुरुः** गुरु और **स्त्रियः** नारी—इन सबको **मध्यभागेन** मध्यावस्था से **सेवितव्यम्** सेवन करना चाहिए [न इनके अत्यन्त निकट रहना चाहिए और न अत्यन्त दूर रहना चाहिए], क्योंकि **अति+आसन्नाः** अत्यन्त निकट होने पर ये **विनाशाय** विनाश का कारण होते हैं और **दूरस्थाः** दूर रहने पर **न फलप्रदाः** ये फल प्रदान नहीं करते।

भावार्थ—राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री—इनका सेवन मध्य-अवस्था से करना चाहिए, क्योंकि अत्यन्त समीप होने पर ये विनाश का कारण बन जाते हैं और दूर रहने पर फल नहीं देते।

विमर्श—राजा के साथ कैसे व्यवहार करे, महाभारत में कहा है—

समवेशं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत्।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥

—महा० विराट० ४।४८

राजा के समान वेशभूषा धारण न करे, उसके अत्यन्त निकट न रहे, उसके सामने ऊँचे आसन पर न बैठे। अपने साथ राजा ने जो गुप्त-

मन्त्रणा की हो उसे दूसरों पर प्रकट न करे। ऐसा करने से ही मनुष्य राजा का प्रिय हो सकता है।

अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है---

Fire is a good servant but a bad master.

अर्थात् अग्नि एक अच्छा सेवक है परन्तु एक बुरा स्वामी है, अतः मध्यावस्था से ही उसका सेवन करना चाहिए।

शिष्य को चाहिए कि गुरु की शय्या, आसन, यान, पादुका, खाने-पीने के पदार्थ और स्नानार्थ जल आदि का अपने लिए प्रयोग न करे। गुरु के सम्मुख हाथ-पैर फैलाकर न बैठे, चपलता न करे। उनकी सेवा करता हुआ योगाभ्यास में आरूढ़ रहे।

स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है—

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

—अवधूतगीता ८।२४

स्त्री आग की भट्ठी के समान है और पुरुष जमे हुए घी के समान है। संसर्ग से पुरुष का वीर्यरूपी घी पिघल जाता है, अतः उन्नति चाहनेवाले पुरुष को स्त्री का परित्याग करना चाहिए, उनमें अत्यन्त आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खाः सर्पा राजकुलानि च।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट्॥१२॥

शब्दार्थ—**अग्निः** आग, **आपः** जल, **स्त्रियः** स्त्रियाँ, **मूर्खाः** मूर्ख, **सर्पाः** साँप **च** और **राजकुलानि** राजपरिवार—ये **नित्यम्** सदा **यत्नेन** प्रयत्नपूर्वक, सावधानी से **सेव्यानि** सेवन करने योग्य हैं, क्योंकि ये **षट्** छह **सद्यः** शीघ्र ही **प्राणहराणि** प्राणों को नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, साँप और राजपरिवार—इन सबका सदा सावधानी से सेवन करना चाहिए, क्योंकि तनिक-सी असावधानी होने से ये प्राणों को नष्ट कर डालते हैं।

विमर्श—अग्नि की एक चिंगारी अस्थान पर गिरकर महाविनाश कर डालेगी। असावधानी के कारण—

जो बैठोगे आग के पास जाकर।
तो उठोगे इक रोज कपड़े जलाकर॥

आपः—जल जीवन है परन्तु अनुचित प्रयोग करने से, असावधानी से यह प्राणों का हरण कर लेता है। जो तैरना नहीं जानता वह डूबकर मर जाता है।

स्त्री—नारी जहाँ पुरुष का श्रेष्ठतम सखा है, वहाँ उसका असंयम से सेवन करना मृत्यु को निमन्त्रण देना है।

मूर्ख—मूर्ख बनते हुए कार्यों को बिगाड़ देता है। अपनी मूर्खता के कारण वह नई-नई विपत्तियाँ खड़ी कर लेता है। मूर्ख अपनी तो हानि करता ही है, अपने साथी को भी हानि पहुँचा देता है, अतः उसके साथ अत्यन्त सावधानी से व्यवहार करना चाहिए।

सर्प—साँप तो है ही विष का भण्डार, क्रुद्ध होते ही डस लेगा।

राजकुल—राजा क्रुद्ध हो गया तो कारागार में डाल सकता है, सेवा-कार्य से पृथक् कर सकता है, देश से बाहर निकाल सकता है, अतः उसके साथ व्यवहार करते समय भी सावधानी वर्तनी चाहिए।

स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम् ॥१३॥

शब्दार्थ—इस संसार में वस्तुतः **सः** वही **जीवति** जीता है **यस्य** जिसमें **गुणाः** गुण विद्यमान हैं अथवा **यस्य** जिसके जीवन में **धर्मः** धर्म है, **सः** वह **जीवति** जीता है। **गुण-धर्म-विहीनस्य** गुण और धर्म से रहित मनुष्य का **जीवितम्** जीना **निष्प्रयोजनम्** निष्फल एवं व्यर्थ है।

भावार्थ—इस लोक में गुणियों का जीवन ही सुजीवन है अथवा धर्मात्मा का जीवन ही यथार्थ जीवन है। जो मनुष्य गुण और धर्म दोनों से रहित है उसका जीना तो व्यर्थ ही समझना चाहिए।

विमर्श—संसार में गुणियों का ही आदर होता है—

सर्वत्र गुणवानेव चकास्ति प्रथितो नरः।
मणिर्मूर्ध्नि गले बाहौ पादपीठेऽपि शोभते ॥

गुणवान् मनुष्य सर्वत्र प्रकाश करता है, वह सर्वत्र प्रसिद्ध होता है, जैसे मणि सर्वत्र शोभा पाती है, चाहे उसे मस्तक पर धारण किया जाए चाहे गले या भुजाओं में अथवा सिंहासन में जड़वाया जाए।

शूराश्च कृतविद्याश्च रूपवत्यश्च योषितः।
यत्र यत्र गमिष्यन्ति तत्र तत्र कृतादराः ॥

शूरवीर, विद्वान् और रूपवती नारियाँ जहाँ-जहाँ जाएँगी, वहाँ-

वहाँ उनका आदर होगा, होता है।

किसी भाषा के कवि ने भी कहा है—

जहाँ रहे गुणवन्त नर, ताकी शोभा होत।
जहाँ धरें दीपक तहाँ, निहचै करे उदोत॥

मनुष्य का पार्थिव शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु अपने गुणों के कारण मनुष्य यशरूपी शरीर से मरने के पश्चात् भी जीवित रहता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, देव दयानन्द आज भी अपने गुणों के कारण जीवित हैं।

धार्मिक मनुष्यों का जीवन ही सुजीवन है। धर्महीन मनुष्य तो पशु के समान ही है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

—हितो० १।२५

खाना, सोना, डरना और मैथुन करना—ये चार बातें मनुष्यों और पशुओं में समान हैं। मनुष्यों में धर्मरूपी गुण ही पशुओं से अधिक है। वह धर्म यदि मनुष्य में न हो तो वह भी पशु के ही समान है।

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥१४॥

शब्दार्थ—**यदि** यदि तू **जगत्** सारे संसार को **एकेन** एक ही **कर्मणा** कर्म के द्वारा **वशीकर्तुम्** अपने वश में करना **इच्छसि** चाहता है तो **पर-अपवाद-सस्येभ्यः** दूसरे की निन्दारूपी खेती में **चरन्तीम्** चरती हुई **गाम्** अपनी जिह्वा को **निवारय** हटा, रोक [वश में कर]।

भावार्थ—हे मनुष्य! यदि तू एक ही कर्म के द्वारा संसार को अपने वश में करना चाहता है तो दूसरों की निन्दा करने में लगी हुई अपनी वाणी को वश में कर अर्थात् किसी की निन्दा मत कर।

विमर्श—यदि संसार को वश में करना चाहते हो तो किसी की निन्दा मत करो। निन्दा से कोई प्रसन्न नहीं होता। प्रश्न होगा निन्दा क्या है? महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निन्दा की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जो मिथ्या ज्ञान, मिथ्या-भाषण, झूठ में आग्रह आदि क्रिया है, जिससे कि गुण छोड़कर उसके स्थान में अवगुण लगाना होता है, वह निन्दा कहाती है।"

वेदमाता का सन्देश है—

मा निन्दत। —ऋ० ४।५।२

निन्दा मत करो।

सुन्दरदासजी ने लिखा है—

अपने न दोष देखे पर के औगुण पेखे,
दुष्ट को स्वभाव उठि निन्दा ही करतु है;
जैसे कोई महल संवारि राख्यो नीके करि,
कीरि तहाँ जाय छिद्र ढूंढत फिरतु है।
भोर ही से साँझ लग, साँझ ही ते भोर लग,
सुन्दर कहे दिन ऐसे ही भरतु है;
पाँव के तरे की नहीं सूझे आग मूरख कूँ
और से कहत तेरे सिर पै बरतु है।।

निन्दा करना दुष्ट और मूर्खों का स्वभाव है, अतः अपने-आपको इससे बचाना चाहिए।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं प्रभावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः।।१५।।

शब्दार्थ—**यः** जो **प्रस्ताव-सदृशम्** प्रसङ्ग के अनुकूल **वाक्यम्** वार्तालाप करना, **प्रभाव-सदृशम्** अपनी गरिमा के अनुकूल **प्रियम्** मधुर-भाषण करना तथा **आत्मशक्तिसमम्** अपनी शक्ति के अनुसार **कोपम्** क्रोध करना **जानाति** जानता है **सः** वह वस्तुतः **पण्डितः** पण्डित है।

भावार्थ—जो व्यक्ति प्रसङ्ग के अनुकूल बात करना जानता है, जो अपनी गरिमा के अनुकूल प्रियभाषण करना जानता है और जो अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जानता है, वह निःसन्देह पण्डित=विद्वान् है।

विमर्श—प्रसङ्ग अनुकूल वार्तालाप के विषय में सर डब्ल्यू टेम्पिल लिखते हैं—

"बातचीत का पहला अंश है सत्य, द्वितीय समझ-बूझ, तृतीय सुन्दर विनोद और चतुर्थ वाक्चातुर्य।"

अपनी गरिमा के अनुकूल प्रिय भाषण करो। मीठा बोलो परन्तु चापलूस मत बनो, झूठी प्रशंसा मत करो, असत्य मत बोलो। अपनी गरिमा के अनुकूल प्रिय, सत्य, हितकर और मधुर बोलो।

क्रोध भी शक्ति के अनुसार होना चाहिए। क्रोध बुद्धि के दीपक को बुझा देता है। क्रोध क्रोध करनेवाले को ही जलाता है परन्तु अपनी शक्ति के अनुसार ऐसा क्रोध बुरा नहीं है जिससे दूसरों का भला हो। किसी ने ठीक ही कहा है—

"जिस क्रोध से अपने कुटुम्बी, अपने इष्ट-मित्र अथवा दूसरों का आचरण सुधरे, ईश्वर में पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो, दया, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो, वह क्रोध बुरा नहीं।"

एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणपः कामिनी मांसं योगिभिः कामिभिः श्वभिः ॥१६॥

शब्दार्थ—**एकः** एक **एव** ही **पदार्थः** पदार्थ [स्त्री का शरीर] **योगिभिः** योगियों, **कामिभिः** कामातुर पुरुषों और **श्वभिः** कुत्तों द्वारा **वीक्षितः** देखे जाने पर **त्रिधा** तीन प्रकार का **भवति** हो जाता है **कुणपः** शव [योगी उसे अतिनिन्दित शव के रूप में देखता है], **कामिनी** सुन्दरी स्त्री [कामी पुरुष उसे सुन्दरी नारी के रूप में देखता है] और **मांसम्** मांस का लोथड़ा [कुत्ता उसे मांसपिण्ड के रूप में देखता है]।

भावार्थ—एक ही पदार्थ [स्त्री के शरीर] को तीन प्रकार के प्राणी तीन प्रकार से देखते हैं। योगी उसे अतिनिन्दित शव के रूप में देखता है। कामी उसे सुन्दर नारी के रूप में देखता है और कुत्ता उसे मांसपिण्ड के रूप में देखता है। ठीक है, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

सुसिद्धमौषधं धर्मं गृहच्छिद्रं च मैथुनम्।
कुभुक्तं कुश्रुतं चैव मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥१७॥

शब्दार्थ—**मतिमान्** बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह **सुसिद्धम्** उत्तम प्रकार [विधि] से सिद्ध की हुई **औषधम्** ओषधि को **धर्मम्** अपने द्वारा किये जानेवाले दान, जप, तप आदि धर्मकार्यों को **गृहच्छिद्रम्** घर के दोषों को **च** तथा **मैथुनम्** स्त्री सम्भोग को, **कुभुक्तम्** कुभोजन को **च** और **कुश्रुतम्** सुने हुए निन्दित वचनों को **एव** भी **न प्रकाशयेत्** कभी किसी के समक्ष प्रकट न करे।

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह विधि से सिद्ध की हुई ओषधि, धर्माचरण, घर के दोष, स्त्री-सम्भोग, कुभोजन और सुने हुए निन्दित वचनों को कभी प्रकाशित न करे।

विमर्श—ये सब मनुष्य के वैयक्तिक कर्म हैं, इन्हें जितना गुप्त

रखा जाए उतना ही उत्तम है। सिद्ध ओषधि की जानकारी होने पर जो सुनेगा, वही माँगेगा, जिसे नहीं दी गई वही शत्रु बन जाएगा या निन्दा करेगा। दान, जप, तप आदि धर्मकार्यों के कथन से उनका क्षरण होता है और मनुष्य में अभिमान की भावना जागती है। घर के दोषों को कहने से लाभ तो कुछ नहीं होता, अपने घर के दोष दूसरों पर प्रकट होने से लोग अनुचित लाभ उठा सकते हैं, जग-हँसाई तो होती ही है। मैथुन=स्त्री-प्रसङ्ग तो है ही गोपनीय वस्तु। कुभोजन और कुश्रवण को प्रकट करने से भी अपना अपयश ही होता है।

तावन्मौनेन नीयन्ते कोकिलैश्चैव वासराः।
यावत्सर्वंजनानन्ददायिनी वाक्प्रवर्तते ॥१८॥

शब्दार्थ—**यावत्** जबतक **सर्व-जन-आनन्द-दायिनी** सब मनुष्यों को आनन्द प्रदान करनेवाली **वाक्** वसन्त ऋतु **प्रवर्तते** आरम्भ होती है **तावत्** तबतक **कोकिलैः** कोयलों द्वारा **वासराः** दिन **मौनेन** मौन रहकर **नीयन्ते** बिताये जाते हैं।

भावार्थ—जबतक सब मनुष्यों को आनन्द देनेवाली वसन्त ऋतु आरम्भ नहीं हो जाती तबतक कोयल मौन रहकर ही अपने दिनों को बिताती है अर्थात् वसन्त ऋतु आने पर ही कोयल की कूक सुनाई देती है।

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ करने में सभी टीकाकार चूक गये। कुछ अनुवादों के नमूने देखिए—

१. "जबतक सब जनों को आनन्द देनेवाली वाणी प्रारम्भ नहीं होती, तबतक कोयल चुप ही रहती है।"

२. "कोयल तबतक मौन धारण किये रहती है जबतक कि वह सभी को आनन्द देनेवाली बोली बोलने में समर्थ न हो जाए।"

३. "कोयल की वाणी से जबतक लोग प्रसन्न नहीं होते, तबतक वह चुप रहती है और फिर अपनी वाणी को मीठी बनाकर सभी स्थानों को गुंजायमान कर देती है।"

ये सभी अनुवाद सत्य-अर्थ से बहुत दूर हैं। क्या पहले कोयल की वाणी कड़वी होती है जो बाद में मीठी बन जाती है? कोयल तो स्वभाव से ही मधुर बोलती है।

वस्तुतः यहाँ 'वाक्' शब्द का अर्थ है वसन्त-ऋतु। कोयल की कूक

वसन्त ऋतु में ही सुनी जाती है, अन्य ऋतुओं में तो वह मौन ही रहती है। जब दादुर=मेंढक टर्राने लगते हैं, तब कोयल मौन हो जाती है। इसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह भी मौन रहे और समय आने पर प्रिय, हितकर तथा मधुर वचन बोले।

धर्मं धनं च धान्यं च गुरोर्वचनमौषधम् ।
सुगृहीतं च कर्तव्यमन्यथा तु न जीवति ॥१६॥

शब्दार्थ—**धर्मम्** धर्म का आचरण **धनम्** धन का उपार्जन **च** तथा **धान्यम्** नाना प्रकार के अन्नों का सञ्चय **च** और **गुरोः** गुरु के **वचनम्** वचनों का पालन **च** इसी प्रकार **औषधम्** नाना प्रकार की ओषधियों का सेवन **सुगृहीतम्** विधि तथा प्रयत्नपूर्वक **कर्तव्यम्** करना चाहिए **अन्यथा** ऐसा न करने पर **तु** निश्चय ही **न जीवति** मनुष्य ठीक प्रकार से नहीं जी सकता।

भावार्थ—धर्म, धन, अन्न, गुरु के वचन और अनेक प्रकार की ओषधियों का भली-भाँति संग्रह करना चाहिए। जो इनका संग्रह नहीं करता, ऐसा मनुष्य संसार में ठीक प्रकार जी नहीं सकता।

विमर्श—धर्माचरण के सम्बन्ध में कहा गया है—

धर्मदानकृतं सौख्यमधर्माद् दुःखसम्भवम् ।
तस्माद् धर्मं सुखार्थाय कुर्यात् पापं विवर्जयेत् ॥

—स्कन्दपुराण

धर्म और दान से सुख तथा अधर्म से दुःख प्राप्त होता है, अतः सुख-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य धर्म का आचरण करे और पाप को सर्वथा त्याग दे।

धनोपार्जन के विषय में नीतिसार में ठीक ही कहा है—

धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति ।
धनेभ्यो परो बान्धवो नास्ति लोके
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥

—नीतिसार

धन से कुलहीन कुलीन बन जाते हैं। धन के द्वारा मनुष्य आपत्तियों से पार हो जाते हैं। संसार में धन से बड़ा कोई साथी नहीं है, अतः धन का उपार्जन करो, धन का उपार्जन करो।

धान्य-संग्रह के विषय में वेद के शब्दों में मनुष्य की यह कामना होनी चाहिए—

अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। —यजु० ३।४३

भक्षण करने योग्य उत्तम अन्नादि पदार्थों से हमारे घर भरपूर हों।

गुरुवचनों का पालन—गुरु के उचित वचनों के पालन से शिष्य का कल्याण होता है, अतः गुरुवचनों का श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए।

ओषधियों का संग्रह—

अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः।

—दशकुमारचरितम्

मणि, मन्त्र और ओषधि—इनका प्रभाव अचिन्त्य होता है।

रोगों की निवृत्ति के लिए पूर्व से ही ओषधियों का संग्रह करके रखना चाहिए।

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥२०॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

शब्दार्थ—हे मानव ! तू **दुर्जन-संसर्गम्** दुष्ट मनुष्यों के संग को **त्यज** त्याग दे और **साधु-समागमम्** सज्जन पुरुषों की संगति **भज** किया कर। तू **अहोरात्रम्** दिन-रात **पुण्यम्** पुण्य, शुभकर्म **कुरु** किया कर तथा **नित्यम्** सदा **अनित्यताम्** संसार की अनित्यता को **स्मर** ध्यान में रखते हुए परमेश्वर का स्मरण किया कर।

भावार्थ—हे मनुष्य ! तू दुष्टों का सङ्ग छोड़कर सज्जनों का सत्सङ्ग कर। रात-दिन शुभकर्म कर और 'संसार अनित्य है' इस बात को ध्यान में रखते हुए सदा प्रभु का चिन्तन किया कर।

विमर्श—हे मानव ! तू दुर्जनों का सङ्ग त्यागकर सत्सङ्ग कर, क्योंकि—

यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ दुर्जनसंसर्गे पतिष्यसि पतिष्यसि॥

यदि सत्संगी बनोगे तो बन जाओगे, उन्नत हो जाओगे, जीवन का कल्याण हो जाएगा और यदि कुसंग में पड़ जाओगे तो पतित हो जाओगे।

कबीरजी ने कहा है—

सत्संग और कुसंग में बड़ा अन्तरा जान।
गन्धी और लुहार की देखो बैठ दुकान॥
कबीरा संगत साध की ज्यों गन्धी की बास।
जो कुछ गन्धी दे नहीं तो भी बास सुबास॥

और भी—

जाहि बड़ाई चाहिए तजे न उत्तम साथ।
ज्यों पलास[1] संग पान के पहुँचे राजा हाथ॥

शुभकर्म करो—

जब तुम आये जगत् में जग हाँसा तुम रोये।
ऐसी करनी कर चलो तुम हाँसो जग रोये॥

संसार की अनित्यता और प्रभु का स्मरण करो। वेद में कहा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत ँ् स्मर॥

—यजु० ४०।१५

आत्मा अभौतिक है, अतः अमर है और यह शरीर भस्म होने-वाला=नाशवान् है। इसलिए हे कर्मशील जीव! तू ओ३म् नाम-वाले परमात्मा का स्मरण कर। अपने सामर्थ्य=पराक्रमहीनता का स्मरण कर [Beware of your ability] और अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर, अपने कर्मों का पर्यालोचन कर [Think of your deeds.]।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
चौदहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥१४॥

---

१. ढाक का पत्ता।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥१॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिसका **चित्तम्** चित्त, हृदय **सर्वजन्तुषु** सारे प्राणियों पर **कृपया** दया से **द्रवीभूतम्** द्रवित हो गया है, पिघल गया है, **तस्य** उसे **ज्ञानेन** ज्ञान-प्राप्ति से, **मोक्षेण** मोक्ष-प्राप्ति के उपायों के अनुष्ठान से और **जटा-भस्म-लेपनैः** जटाधारण करने या बढ़ाने से तथा शरीर पर भस्म रमाने से **किम्** क्या प्रयोजन ?

भावार्थ—जिसका चित्त प्राणिमात्र पर दया से द्रवीभूत हो जाता है उसे ज्ञान और मोक्ष-प्राप्ति की तथा जटा-धारण और भस्म-लेपन की क्या आवश्यकता है ?

विमर्श—प्राणिमात्र पर दया करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। प्रत्येक मनुष्य की ऐसी भावना होनी चाहिए—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

न मुझे राज्य की इच्छा है और न ही मुझे स्वर्ग अथवा मोक्ष की इच्छा है। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि दुःख से पीड़ित प्राणियों के क्लेश दूर हों।

यहाँ **'द्रवीभूतम्'** पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। दया दो प्रकार की होती है—निष्क्रिय दया और सक्रिय दया। निष्क्रिय दया में मनुष्य दुःख एवं सहानुभूति प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। यह दुर्बलों की दया है और अधिकांश दयालु इसी प्रकार के होते हैं। सक्रिय दयावान् दूसरे को दुःखी देखकर द्रवीभूत हो जाते हैं और उसके दुःख को दूर करने के लिए अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर देते हैं। ऐसे दयालुओं को ज्ञान से, मोक्ष से, जटाधारण और भस्म रमाने से कोई प्रयोजन नहीं होता।

[1]एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चाऽनृणी भवेत् ॥२॥

शब्दार्थ—**यः** जो **गुरुः** गुरु **तु** तो **शिष्यम्** अपने शिष्य को **एकम्** अद्वितीय **अक्षरम्** विनाशरहित ओ३म् वाच्य परमेश्वर का **एव** ही **प्रबोधयेत्** पूर्ण बोध करा देता है, **पृथिव्याम्** पृथिवी पर **तत्** ऐसा **द्रव्यम्** द्रव्य, धन **न+अस्ति** नहीं है **यत्** जिसे **दत्वा** गुरु को अर्पित करके शिष्य **च** सचमुच **अनृणी** गुरु के ऋण से उऋण **भवेत्** हो जाए ।

भावार्थ—जो गुरु अपने शिष्य को अद्वितीय, विनाशरहित, ओ३म् वाच्य परमेश्वर का ठीक-ठीक बोध करा देता है, पृथिवी पर कोई ऐसा पदार्थ, धनादि नहीं है, जिसे गुरु को समर्पित करके शिष्य गुरु के ऋण से उऋंण हो सके ।

विमर्श—परमेश्वर का ठीक-ठीक बोध करानेवाले दुर्लभ हैं और परमात्मा का सम्यक् बोध करानेवाले ऐसे गुरु के ऋण से उऋण होना भी असम्भव है ।

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानान्मुखभङ्गो वा दूरतो वा विसर्जनम् ॥३॥

शब्दार्थ—**खलानाम्** दुष्टों **च** और **कण्टकानाम्** काँटों को दूर करने के **द्विविधा** दो प्रकार के **एव** ही **प्रतिक्रिया** उपाय हैं—**वा** या तो **उपानात्** जूतों से उनका **मुखभङ्गः** मुखमर्दन करना **वा** अथवा **दूरतः** दूर से ही उन्हें **विसर्जनम्** त्याग देना ।

भावार्थ—दुर्जन और कण्टक—इनसे बचने के दो ही उपाय हैं, या तो जूतों से उनका मुखमर्दन करना [उन्हें कुचलना] अथवा उन्हें दूर से ही त्याग देना, उनसे बचकर निकल जाना ।

विमर्श—दुर्जनों के साथ मेल-मिलाप ठीक नहीं—

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥

—हितो० १।८१

दुर्जन के साथ मैत्री और वैर कुछ भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि

१. इस श्लोक का अर्थ यूं भी हो सकता है—जो गुरु शिष्य को एक भी अक्षर=शब्द का उपदेश करता है···शेष अर्थ समान है ।

वह दोनों स्थितियों में अनिष्ट करता है, जैसे जलते हुए अङ्गार [कोयले] को स्पर्श करने से वह हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर [बुझे हुए को] छूने से हाथ को काला करता है।

तुलसीदासजी ने लिखा है—

कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलहु न भल नहिं प्रीती ॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिय स्वान की नाईं ॥

—मानस, उत्तर०

कुचैलिनं दन्तमलोपसृष्टं
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः ॥४॥

शब्दार्थ—**कुचैलिनम्** मलिन वस्त्र पहननेवाले को **दन्त-मल-उपसृष्टम्** मलयुक्त दाँतों [गन्दे दाँतोंवाले, दाँतों की सफाई न करने] वाले को, **बहु+आशिनम्** बहुत भोजन करनेवाले, पेटू को **च** तथा **निष्ठुरभाषिणम्** कटु, कठोर, कड़वे वचन बोलनेवाले को **सूर्य-उदये** सूर्योदय के पश्चात् **च** और **अस्तमिते** सूर्यास्त के समय **शयानम्** सोनेवाले को **श्रीः** लक्ष्मी, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शोभा **विमुञ्चति** त्याग देती है **यदि** चाहे वह **चक्रपाणिः** विष्णु ही क्यों न हो।

भावार्थ—मलिन [गन्दे] वस्त्र धारण करनेवाले, मलयुक्त दाँतोंवाले, पेटू, कटुभाषी और सूर्योदय के पश्चात् तथा सूर्यास्त के समय सोनेवाले को श्री [शोभा, स्वास्थ्य, सौन्दर्य और ऐश्वर्य] त्याग देती है, चाहे वह साक्षात् विष्णु ही क्यों न हो।

विमर्श—१. वस्त्रों का सम्बन्ध शरीर के साथ होता है। मैले वस्त्रों से स्वास्थ्य बिगड़ता है, मन भी दूषित होता है।

२. दाँतों की सफाई न करने से मल दाँतों के ऊपर, उनके बीच में और उनकी जड़ों में इकट्ठा होकर सड़ता है, परिणामस्वरूप दाँतों में पूयजन कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उनमें पूयदन्त [Pyorrhoea] हो जाता है। इनका पूय खान-पान के साथ पेट में और पेट से रक्त में जाकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देता है।

३. पेटू के पास से बहुत खाने के कारण लक्ष्मी चली जाती है।

बहुत खाने से स्वास्थ्य भी खराब होता है। महर्षि मनु ने लिखा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ —मनु० २।५७

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग=सुख और पुण्य के लिए अहितकर तथा लोकनिन्दित है, अतः उसे [अधिक भोजन करने को] छोड़ देना चाहिए।

४. निष्ठुर भाषण—कटु बोलनेवाले से कोई प्रेम नहीं करता। कटु, तीखा, कड़वा और कठोर बोलने से आयु घटती है, अतः वेद ने कहा है—

उग्रं वचो अपावधीः। —साम० ३५३

हे मानव ! तू कठोर भाषण को त्याग दे।

५. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के समय सोने से तेज क्षीण होता है तथा आयु घटती है, अतः चाणक्यजी अन्यत्र लिखते हैं—

न हि कर्माणि चत्वारि सन्ध्याकाले प्रयोजयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां तथा स्वाध्यायमेव च॥

—चाणक्यसारसंग्रह १।५०

भोजन, मैथुन, सोना और स्वाध्याय—इन चार कार्यों को सन्ध्या समय में नहीं करना चाहिए।

'श्री' के अनेक अर्थ हैं। धन-सम्पत्ति भी श्री का अर्थ है। मलिन वस्त्रधारी आदि व्यक्ति लक्ष्मी से हीन हो जाते हैं और स्वास्थ्यरूपी लक्ष्मी से भी हाथ धो बैठते हैं—**'धनमायुर्निरामयम्'**। नीरोग जीवन ही धन है।

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं
दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च।
तं चार्थवन्तं पुनराश्रयन्ते
अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः॥५॥

शब्दार्थ—**मित्राणि** मित्रवर्ग, **दाराः** पत्नी **च** तथा घर में रहनेवाली अन्य स्त्रियाँ **भृत्याः** नौकर **च** और सेवक, **सुहृज्जनाः** स्नेहीजन **च** और बन्धु-बान्धव **धनैः** धन से **विहीनम्** रहित मनुष्य को **त्यजन्ति** छोड़ देते हैं **च** तथा **अर्थवन्तम्** धन का आगमन होने पर, फिर से धनी हो जाने पर **पुनः** फिर **तम्** उसी मनुष्य का **आश्रयन्ते** आश्रय ग्रहण कर लेते हैं।

ठीक ही है लोके संसार में अर्थः धन हि ही पुरुषस्य मनुष्य का बन्धुः बन्धु है।

भावार्थ—मित्र, स्त्री, सेवक, बन्धु-बान्धव—ये सब धनहीन मनुष्य को त्याग देते हैं। वही मनुष्य यदि पुनः धन-सम्पन्न बन जाए तो फिर उसी का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। वस्तुतः संसार में धन ही मनुष्य का बन्धु है।

विमर्श—निर्धन को सभी त्याग देते हैं। शुक्राचार्यजी ने भी ठीक ही कहा है—

अस्ति यावत्तु सधनस्तावत्सर्वैस्तु सेव्यते।
निर्धनस्त्यज्यते भार्यापुत्राद्यैः सगुणोप्यतः॥

—शुक्र० ३।१७७

जबतक मनुष्य के पास धन रहता है तबतक सब लोग उसकी सेवा करते हैं और जब वह धनहीन हो जाता है तब गुणवान् होने पर भी स्त्री-पुत्रादि उसे त्याग देते हैं।

किसी भाषा के कवि ने भी कहा है—

टूट जाता है गरीबी में जो रिश्ता खास होता है।
बन जाते हैं रिश्तेदार जब जर पास होता है॥

संसार का व्यवहार चलाने के लिए धन आवश्यक है, अतः विद्या, सेवा, शूरवीरता, कृषि, व्यापार, संगीत, कला आदि द्वारा जैसे भी हो धन कमाना चाहिए, क्योंकि धनियों के द्वार पर गुणीजन भी नौकर की भाँति पड़े रहते हैं।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद् विनश्यति॥६॥

शब्दार्थ—**अन्याय-उपार्जितम्** अन्याय, अधर्म, अनीति से कमाया हुआ **द्रव्यम्** धन **दश** दस **वर्षाणि** वर्ष पर्यन्त **तिष्ठति** टिकता है **च** और **एकादशे** ग्यारहवें **वर्षे** वर्ष के **प्राप्ते** प्राप्त होने पर **तत्** वह धन **समूलम्** ब्याज और मूलसहित **विनश्यति** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—अन्याय से कमाया हुआ धन दस वर्ष तक ठहरता है, ग्यारहवाँ वर्ष आरम्भ होने पर ब्याज और मूलसहित नष्ट हो जाता है।

विमर्श—अन्याय से उपार्जित धन मूलसहित नष्ट होता है। महर्षि मनु लिखते हैं—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

—मनु० ४।१७४

मनुष्य अधर्माचरण [अन्याय, अधर्म और दूसरों का गला काटकर धन कमाने] से पहले उन्नति करता है, तत्पश्चात् नाना प्रकार का कल्याण [कोठी, धन-धान्य, नौकर-चाकर, बन्धु-बान्धवों का सुख] देखता है, उसके बाद शत्रुओं पर भी विजय पा लेता है परन्तु अन्त में मूलसहित [कोठी, धन-धान्यादि सहित] नष्ट हो जाता है।

वेद में कहा है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ —ऋ० १।१।३

मनुष्य ईश्वर की उपासना और अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रतिदिन पुष्टि देनेवाले, निरन्तर बढ़ने और बढ़ानेवाले, कीर्ति देनेवाले तथा जिसकी सब कामना करते हैं, ऐसे धन को प्राप्त करे।

भक्त प्रभु से प्रार्थना करता है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

—अथर्व० ७।११५।२

दुराचार में गिरानेवाली और सेवन करने के अयोग्य जो धन-सम्पत्ति मुझे ऐसे चिपटी हुई है जैसे अमरबेल वृक्ष पर चिपट कर उसे सुखा देती है, हे सविता देव! उस नागिन के समान लक्ष्मी को हमसे पृथक् कर। हे सुवर्ण आदि धनों से सम्पन्न! तू हमें उत्तम धन प्रदान कर।

हम धन कमाएँ परन्तु ईमानदारी से, क्योंकि अधर्म से उपार्जित धन बहुत समय तक नहीं ठहरता।

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम्।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शङ्करभूषणम्॥७॥

शब्दार्थ—स्वामिनः समर्थ मनुष्य का **अयुक्तम्** अयोग्य अथवा अनुचित कार्य भी **युक्तम्** उचित ही होता है और **नीचस्य** नीच पुरुष का, हीनस्तर के मनुष्य का **युक्तम्** उचित कार्य भी **दूषणम्** दोषयुक्त होता है। **राहवे** राहु के लिए **अमृतम्** अमृत भी **मृत्युः** मौत का कारण

बन गया और विषम् हलाहल विष शङ्करभूषणम् शंकर के कण्ठ का आभूषण बन गया।

भावार्थ—समर्थ पुरुष का अनुचित कार्य भी उचित और क्षुद्र मनुष्य का उचित कार्य भी अनुचित हो जाता है। उदाहरण के रूप में राहु [दैत्य] के लिए अमृत भी मौत का कारण बन गया और शिव के लिए विष भी कण्ठ का आभूषण बन गया। विषपान करके भी वे मरे नहीं अपितु नीलकण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

विमर्श—यह श्लोक पुराणों के एक कथानक की ओर संकेत कर रहा है। कथानक इस प्रकार है—

देवों और असुरों ने मिलकर समुद्र का मन्थन आरम्भ किया। [सर्वथा असम्भव] मन्थन करते हुए उसमें से विष निकला। देव और दानव सभी भयभीत हो उठे। सबने मिलकर शिवजी से प्रार्थना की। शिवजी ने उस विष का पान कर लिया और उसे कण्ठ से नीचे नहीं जाने दिया। विष के पान से शिव का कण्ठ नीला हो गया और वे नील-कण्ठ कहलाये। [इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाँच-सात बूंद विष निकला होगा जो उनके कण्ठ तक ही रह गया। अस्तु]। पुनः मन्थन आरम्भ हुआ। सबसे अन्त में अमृत निकला। अमृत का पान करने के लिए देव और दानव दोनों झगड़ने लगे। तब विष्णुजी मोहिनी का रूप धारण कर वहाँ आ गये। देव और असुर दोनों ने अमृत का घड़ा मोहिनी को दे दिया। वह सबको पंक्ति में बैठाकर अमृत बाँटने लगी। एक दैत्य भी देवों में आकर बैठ गया। मोहिनी ने उसे भी अमृत पिला दिया। सूर्य और चन्द्रमा ने संकेत कर दिया कि यह तो दैत्य है। [वाह ! विष्णु-जी को इतना भी पता नहीं चला कि यह दैत्य है।] सूर्य और चन्द्रमा के संकेत पर मोहिनी [विष्णु] ने सुदर्शनचक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

हम इस अनर्गल कथा से सहमत नहीं हैं, क्योंकि श्लोक में इस कथा की ओर संकेत है, अतः हमने यह कथा पाठकों की जानकारी के लिए लिख दी है।

हमारे विचार में यह श्लोक भी निश्चितरूप से प्रक्षिप्त है।

तद्भोजनं यद् द्विजभुक्तशेषं
तत्सौहृदं यत्क्रियते परस्मिन्।

सा प्राज्ञता या न करोति पापं
दम्भं विना यः क्रियते स धर्मः ॥८॥

शब्दार्थ—**भोजनम्** भोजन **तत्** वही है **यत्** जो **द्विज-भुक्त-शेषम्** ब्राह्मणों के भोजन करने पर शेष बचता है। **सौहृदम्** प्रेम, स्नेह **तत्** वह है **यत्** जो **परस्मिन्** दूसरे पर **क्रियते** किया जाता है। **प्राज्ञता** बुद्धिमत्ता **सा** वह है **या** जो **पापम्** पाप-कार्य **न** नहीं **करोति** करती [अर्थात् बुद्धिमत्ता वह है जिसमें पाप का अभाव हो] **धर्मः** धर्म **सः** वह है **यः** जो **दम्भम्** दम्भ के **विना** विना **क्रियते** किया जाता है।

भावार्थ—भोजन वह है जो ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के पश्चात् बचता है, अर्थात् ब्राह्मणों को खिलाने से बचा हुआ भोजन करना चाहिए। प्रेम, स्नेह वह है जो परायों पर किया जाए, अपनों से तो सभी स्नेह करते हैं। बुद्धिमत्ता यह है कि मनुष्य पापकर्मों को करने से बचा रहे और धर्म वह है जिसमें दम्भ, छल-कपट न हो।

विमर्श—ब्राह्मणों के भोजन करने के पश्चात् बचा हुआ भोजन ही वस्तुतः भोजन है—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥

—मनु० ३।२८५

गृहस्थ को चाहिए कि वह सदा विघस भोजन करनेवाला हो अथवा अमृत-भोजन करनेवाला हो। ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के पश्चात् शेष अन्न को 'विघस' कहते हैं और पञ्चयज्ञ कर लेने के पश्चात् बचे हुए भोजन को 'अमृत' कहते हैं।

मणिर्लुण्ठति पादाग्रे काचः शिरसि धार्यते।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः ॥९॥

शब्दार्थ—**मणिः** मणि, रत्न चाहे **पाद-अग्रे** पैरों के आगे **लुण्ठति** लुढ़कती रहे और **काचः** काँच **शिरसि** सिर पर **धार्यते** धारण कर लिया जाए फिर भी वे जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे, क्योंकि **क्रयविक्रय-वेलायाम्** क्रय-विक्रय [खरीदने और बेचने] के समय **काचः** काँच **काचः** काँच ही रहता है और **मणिः** रत्न **मणिः** रत्न ही रहता है, अर्थात् मणि का मूल्य ही अधिक होता है।

भावार्थ—रत्न चाहे पैरों के आगे लुढ़कता रहे और काँच को सिर पर धारण कर लिया जाए परन्तु मोल लेने या बेचने के समय काँच, काँच ही रहता है और रत्न, रत्न ही रहता है।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥१०॥

शब्दार्थ—**अनन्त-शास्त्रम्** वेदादि धर्मशास्त्र अनन्त हैं **च** और **विद्याः** विद्याएँ भी **बहुलाः** बहुत हैं **च** निश्चय ही **कालः** समय **अल्पः** बहुत थोड़ा है **च** और **बहुविघ्नता** विघ्न बहुत हैं, अतः इन शास्त्रों में **यत्** जो **सारभूतम्** सार, तत्त्व हो **तत्** वही **उपासनीयम्** ग्रहण करने योग्य है **यथा** जैसे **हंसः** हंस **अम्बु-मध्यात्** दूध और पानी के मिश्रण में से **क्षीरम्** दूध को **इव** ही ग्रहण करता है।

भावार्थ—वेदादि शास्त्र अनन्त हैं और विद्याएँ भी बहुत हैं। दूसरी ओर समय बहुत कम है और विघ्न बहुत हैं, अतः इन शास्त्रों में जो सार है, उसे ग्रहण करना चाहिए, जैसे हंस दूध और पानी के मिश्रण में से दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है।

विमर्श—शास्त्र अनन्त हैं, यथा—वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, इतिहासग्रन्थ आदि।

विद्याएँ बहुत हैं। किन्हीं के मत में चार ही विद्याएँ हैं—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम् ॥

—कामन्दकीय० २।२

आन्वीक्षिकी=तर्कशास्त्र, त्रयी=वेदत्रयी की विद्या, वार्ता=खेती और व्यवसाय, पशु-पालन तथा शाश्वती दण्डनीति—ये चार विद्याएँ मनुष्यों के योगक्षेम के लिए हैं।

महर्षि मनु ने आत्मविद्या को भी इनके साथ जोड़ा है। [द्र० मनु० ७।४३]

साधारणतया चौदह विद्याएँ मानी जाती हैं, यथा—चार वेद, छह वेदाङ्ग [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त] धर्म, मीमांसा, तर्क [न्यायशास्त्र] और पुराण [इतिहास-ग्रन्थ]।

समय बहुत थोड़ा है, जीवन अल्प है—
Art is long, life is short and time is fleeting.
कार्य विशाल है, जीवन थोड़ा है और समय भाग रहा है।

दूरागतं पथि श्रान्तं वृथा च गृहमागतम्।
अनर्चयित्वा यो भुङ्क्ते स वै चाण्डाल उच्यते ॥११॥

शब्दार्थ—**दूर-आगतम्** दूर से चलकर आनेवाले, **पथि श्रान्तम्** मार्ग चलने के श्रम से थके हुए **च** और **वृथा** अकारण अथवा बिना किसी स्वार्थ के **गृहम्** घर पर **आगतम्** आये हुए अतिथि को **अनर्चयित्वा** बिना पूजे [बिना आदर-सत्कार किये] **यः** जो गृहस्वामी **भुङ्क्ते** स्वयं भोजन कर लेता है **वै** निश्चय ही **सः** वह **चाण्डालः** चाण्डाल **उच्यते** कहलाता है।

भावार्थ—दूर से चलकर आनेवाले, मार्ग चलने के श्रम से थके हुए, अकारण अथवा बिना स्वार्थ के घर पर आये हुए अतिथि का आदर-सत्कार किये बिना जो गृह-स्वामी स्वयं भोजन कर लेता है, उसे 'चाण्डाल' कहते हैं।

विमर्श—घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार करना चाहिए—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

—मनु० ३।९९

घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार करके उसके लिए पैर धोने के लिए जल, बैठने के लिए आसन और शक्ति के अनुसार संस्कृत अन्न=स्वादिष्ट भोजन विधिपूर्वक देना चाहिए।

यदि कुछ भी न हो तो—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

—मनु० ३।१०१

तृण [तिनके=घास का बना आसन सोने के लिए], भूमि [बैठने के लिए], जल [पैर धोने और पीने के लिए] तथा मधुरवचन—ये चारों तो सज्जनों के घर में कभी नष्ट नहीं होते अर्थात् सदा विद्यमान रहते हैं, अतः अन्नादि के अभाव में इनके द्वारा अतिथियों का सत्कार करना चाहिए।

पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा ॥१२॥

शब्दार्थ—जो लोग **चतुरः वेदान्** ऋग्वेदादि चारों वेदों को तथा **अनेकशः** बहुत-से **धर्म-शास्त्राणि** धर्मशास्त्रों को **पठन्ति** पढ़ते हैं फिर भी **आत्मानम्** आत्मा और परमात्मा को **न एव जानन्ति** बिल्कुल नहीं जानते [आत्मज्ञान से शून्य हैं,] उनका जीवन ऐसा है **यथा** जैसे **दर्वी** कलछी **पाकरसम्** रसदार शाक में घूमकर भी उसके स्वाद को नहीं जानती ।

भावार्थ—जो ऋग्वेदादि चारों वेद और अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन करके भी शास्त्रों के प्रतिपाद्य आत्मा और परमात्मा को नहीं जानते, आत्मज्ञान से शून्य हैं, उनका जीवन ठीक ऐसा ही है जैसे रसदार शाक में घूमनेवाली कलछी को उसके स्वाद का ज्ञान नहीं होता ।

विमर्श—सारे वेदमन्त्रों और सभी धर्मशास्त्रों का तात्पर्य परमात्मा में है । वेदादि शास्त्र आत्मा-परमात्मा के ज्ञान से भरे पड़े हैं । सभी शास्त्र पुकार-पुकार कर उस ब्रह्म को जानने का सन्देश दे रहे हैं । वेद ने तो यहाँ तक कह दिया—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । —ऋ० १।१६४।३९

जो सर्वोत्पादक परमेश्वर को नहीं जानता, उसे वेदपाठ से भी क्या लाभ होगा ?

धन्या द्विजमयी नौका विपरीता भवार्णवे ।
तरन्त्यधोगताः सर्वे उपरिस्थाः पतन्त्यधः ॥१३॥

शब्दार्थ—यह **द्विजमयी** ब्राह्मणरूपी **नौका** नाव **धन्या** धन्य है जो **भव-अर्णवे** संसाररूपी सागर में **विपरीता** उलटी रीति से चलती है । उलटी रीति क्या है ? **अधोगताः** इसके नीचे रहनेवाले **सर्वे** सब **तरन्ति** तर जाते हैं, भव-सागर से पार हो जाते हैं परन्तु **उपरिस्थाः** ऊपर रहनेवाले, ऊपर चढ़नेवाले **अधः** नीचे **पतन्ति** गिर जाते हैं ।

भावार्थ—ब्राह्मणरूपी नौका धन्य है । संसाररूपी सागर में यह उलटी गति से चलती है । उलटी गति क्या है ? जो इस नाव के नीचे रहते हैं, वे सब तो तर जाते हैं, भवसागर से पार उतर जाते हैं और जो इस नाव में ऊपर चढ़ते हैं, उनका पतन हो जाता है, वे नीचे गिर जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जो ब्राह्मणों के साथ नम्रता का व्यवहार

करते हैं, वे तर जाते हैं और जो नम्र नहीं रहते, अभिमान में चूर रहकर उनका अपमान करते हैं उनका पतन हो जाता है।

विमर्श—धर्मात्मा और नीतिज्ञ विदुर ने धृतराष्ट्र को विनाश की सूचना देनेवाले आठ लक्षणों का निर्देश किया था—

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति॥
नैतान् स्मृति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत्॥

—विदुर० १।९८-१००

विनाश को प्राप्त होनेवाले पुरुष में निम्न आठ चिह्न पहले ही आ जाते हैं—१. वह ब्राह्मणों से द्वेष करने लगता है, २. ब्राह्मणों से विरोध करता है, ३. ब्राह्मणों के धन को छीनता है, ४. ब्राह्मणों को मारने [शारीरिक दण्ड देने या नष्ट करने] की इच्छा करता है, ५. ब्राह्मणों की निन्दा करने में सुख मानता है, ६. ब्राह्मणों की प्रशंसा से प्रसन्न नहीं होता, ७. उचित अवसरों [उत्सवादि] पर ब्राह्मणों का स्मरण नहीं करता [उनसे सम्मति नहीं लेता और न उन्हें निमन्त्रित करता है] और ८. ब्राह्मण आदि कुछ माँगते हैं तो उन्हें हीनता से देखता है। बुद्धिमान् मनुष्य को इन दोषों को जानना चाहिए और जानकर इन्हें त्याग देना चाहिए।

अयममृतनिधानं नायकोऽप्यौषधीनां
अमृतमयशरीरः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्रः।
भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानोः
परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति॥१४॥

शब्दार्थ—**अयम्** यह **चन्द्रः** चन्द्रमा **अमृतनिधानम्** अमृत का भण्डार है, **ओषधीनाम्** ओषधियों का **नायकः** अधिपति **अपि** भी है, **अमृतमयशरीरः** इसका शरीर अमृतमय है, **कान्तियुक्तः अपि** और कान्ति से युक्त भी है—ऐसा यह चन्द्रमा दिन में अथवा अमावास्या को **भानोः** सूर्य के **मण्डलम्** मण्डल को **प्राप्य** प्राप्त होकर **विगतरश्मिः** रश्मिहीन, निस्तेज **भवति** हो जाता है। ठीक ही है **पर-सदन-निविष्टः** दूसरे के घर में

जाकर कः कौन लघुत्वम् लघुता को, छोटेपन को न याति प्राप्त नहीं होता ? [अर्थात् दूसरे के घर जाने पर सभी छोटे हो जाते हैं।]

भावार्थ—चन्द्रमा अमृत का भण्डार, ओषधियों का अधिपति, अमृतमय शरीरवाला और कान्तियुक्त होने पर भी सूर्य के मण्डल में जाकर निस्तेज हो जाता है, उसकी सब चमक-दमक और शोभा लुप्त हो जाती है। ठीक ही है, दूसरे के घर में जाकर कौन लघुता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सभी होते हैं।

विमर्श—दूसरे के घर जाकर सबकी महिमा घट जाती है—

कौन बड़ाई जलधि मिली गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी पर-घर गये रहीम॥

अलिरयं नलिनीदलमध्यगः
कमलिनीमकरन्दमदालसः।
विधिवशात्परदेशमुपागतः
कुटजपुष्परसं बहु मन्यते॥१५॥

शब्दार्थ—अयम् यह अलिः भ्रमर, भौंरा जब नलिनी-दल-मध्यगः कमलिनी के पत्तों के मध्य में था तब कमलिनी-कमरन्द-मद-आलसः कमलिनी के पराग के रस का पान कर उसके मद से अलसाया रहता था परन्तु अब विधिवशात् भाग्यवश परदेशम्-उपागतः परदेश में आकर कुटज-पुष्प-रसम् कुटज [करीर] के पुष्प के रस को ही बहु बहुत मन्यते मानता है, जिसमें न रस है और न गन्ध।

भावार्थ—भौंरा जब कमलिनी के पत्तों के मध्य में था, तब कमलिनी के पराग के रस का पानकर उसके मद से अलसाया रहता था [मद-मस्त बना रहता था] परन्तु अब भाग्यवश परदेश में आकर कुटज [करीर, इन्द्रजौ, कटसरैया, कुरैया] के पुष्प के रस को ही बहुत मानता है, जो रसहीन और गन्धशून्य है।

पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येन रोषाद्
आबाल्याद्विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्तं
तस्मात्खिन्ना सदाहं द्विजकुलनिलयं नाथ युक्तं त्यजामि॥१६॥

शब्दार्थ—लक्ष्मी विष्णु से कहती है—येन जिस [अगस्त्य ऋषि]

ने **क्रुद्धेन** रुष्ट होकर **तातः** मेरे पिता समुद्र को **पीतः** पा डाला, विप्रवर भृगु ने **रोषात्** क्रोध से **वल्लभः** मेरे प्राणप्रिय पति विष्णु को **चरण-तलहतः** लात मारी, **विप्रवर्यैः** श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा **आबाल्यात्** बाल्य-काल से ही **स्व-वदन-विवरे** अपने मुखरूपी विवर [छिद्र] में **मे** मेरी **वैरिणी** सौत [सरस्वती] **धार्यते** धारण की जाती है और जो **प्रतिदिवसम्** प्रतिदिन **उमाकान्त-पूजा-निमित्तम्** पार्वती के पति शिव की पूजा के लिए **मे** मेरे **गेहम्** घर [कमल] को **छेदयन्ति** तोडते है, उजाड़ते हैं, **नाथ** ! हे स्वामिन् **तस्मात्** इन कारणों से **खिन्ना** खिन्न होकर **अहम्** मैं **द्विजकुल-निलयम्** ब्राह्मणों के घर को **सदा** सदा **युक्तम्** ठीक ही **त्यजामि** छोड़े रहती हूँ।

भावार्थ—लक्ष्मी विष्णुजी से कहती हैं—अगस्त्य ऋषि ने क्रुद्ध होकर मेरे पिता समुद्र को पी डाला, विप्रवर भृगु ने रुष्ट होकर मेरे प्राणप्रिय पति के वक्षस्थल पर लात मारी, श्रेष्ठ ब्राह्मण बचपन से ही मेरी सौत सरस्वती को मुँह लगाये रहते हैं और प्रतिदिन उमापति शिव की पूजा के लिए मेरे घर [कमल-पुष्पों] को उजाड़ते रहते हैं, हे नाथ ! इन सब कारणों से मैं ब्राह्मणों के घरों को सदा छोड़े रहती हूँ।

विमर्श—समुद्र का पीना, विष्णु को लात मारना आदि हैं तो ये सब गप्पें ही परन्तु विद्वानों के निर्धन होने का काव्यमय चित्रण अतीव मनोहारी है।

सारे ही विद्वान् निर्धन होते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। अनेक व्यक्ति विद्वान् होने के साथ-साथ वैभवशाली भी हुए हैं।

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुदृढबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्-
निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥१७॥

शब्दार्थ—**बन्धनानि** बन्धन तो **खलु** निश्चय ही **बहूनि** बहुत-से **सन्ति** हैं परन्तु **प्रेम-रज्जु-दृढ-बन्धनम्** प्रेम की रस्सी का दृढ़ बन्धन **अन्यत्** कुछ अनोखा ही होता है, क्योंकि **दारु-भेद-निपुणः** काठ को छेदने में कुशल **अपि** भी **षडंघ्रिः** भौंरा **पङ्कजकोशे** कमल के फूल में बन्द होकर **निष्क्रियः** चेष्टारहित **भवति** हो जाता है, कमल के साथ अत्यन्त स्नेह होने के कारण उसे छेदन में समर्थ होने पर भी उसे काटता नहीं है।

भावार्थ—संसार में बन्धन तो बहुत हैं परन्तु प्रेम की रस्सी का बन्धन कुछ अनोखा ही होता है, क्योंकि काठ को छेदने में समर्थ भी भौंरा कमल के फूल में बन्द होकर निष्क्रिय हो जाता है। कमल की पंखड़ियों को काटने में समर्थ होने पर भी वह कमल के साथ प्रीति होने के कारण 'इसकी पंखड़ियाँ खराब हो जाएँगी'—ऐसा सोचकर उन्हें काटता नहीं है।

विमर्श—प्रेम के बन्धन में फँसकर भौंरा अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। एक कवि ने भौंरे की मनोदशा का चित्रण यूँ किया है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

सायंकाल मुंदी हुई कमलिनी के भीतर बैठा हुआ एक भौंरा इस प्रकार सोच रहा था—'रात्रि व्यतीत होगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्योदय होगा और कमल खिल उठेगा, तब मैं यहाँ से मुक्त हो जाऊँगा'—हा हन्त ! दुःख है इस चिन्तन में एक हाथी ने उस कमल को उखाड़कर फेंक दिया।

हे मानव ! प्रेम कर परन्तु मोह में मत फँस। मोह में फँसकर तू भी नष्ट हो जाएगा।

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः ॥१८॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

शब्दार्थ—**छिन्नः** कटा हुआ **अपि** भी **चन्दन-तरुः** चन्दन का वृक्ष **गन्धम्** अपनी सुगन्ध को **न जहाति** नहीं छोड़ता, **वृद्धः** बूढ़ा **अपि** भी **वारणपतिः** गजराज **लीलाम्** विलास-लीला [काम-क्रीड़ा] को **न जहाति** नहीं छोड़ता **च** और **इक्षुः** ईख **यन्त्र-अर्पितः** कोल्हू में पेरे जाने पर भी **मधुरताम्** अपने माधुर्य को **न जहाति** नहीं छोड़ती, इसी प्रकार **कुलीनः** कुलीन मनुष्य **क्षीणः** धनहीन, दरिद्र होने पर **अपि** भी **शीलगुणान्** दया, दाक्षिण्य [चतुरता] आदि गुणों को **न त्यजति** नहीं छोड़ता।

भावार्थ—कट जाने पर भी चन्दन का वृक्ष अपनी सुगन्ध को नहीं छोड़ता, बूढ़ा होने पर भी गजराज अपनी काम-क्रीड़ाओं को नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरने पर भी ईख अपनी मिठास को नहीं छोड़ती, इसी प्रकार कुलीन मनुष्य धनहीन होने पर भी अपनी सुशीलता को नहीं छोड़ता।

विमर्श—इसी भाव से मिलते-जुलते एक अन्य श्लोक का रसास्वादन कीजिए—

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम्
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुकाण्डम्।
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णं
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिर्विकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥[1]

चन्दन को जितना घिसा जाता है, वह उतना ही अधिक सुगन्ध देता है, गन्ने को जितना ही काटते या चूसते जाओ वह और अधिक मिठास देता है तथा स्वर्ण को जितना-जितना तपाया जाए उतना ही अधिक चमकता है, ठीक इसी प्रकार उत्तम पुरुषों का चाहे प्राणान्त भी क्यों न हो जाए, उनके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
पन्द्रहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥१५॥

---

१. तुलना करें—हनुमन्नाटक ५।८

अथ षोडशोऽध्यायः

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ।।१।।

शब्दार्थ—मरण-शय्या पर पड़ा हुआ कोई वृद्ध पश्चात्ताप कर रहा है कि मैंने अपने जीवन में कभी **संसार-विच्छित्तये** संसार-जाल को काटने [मोक्ष-प्राप्ति] के लिए **विधिवत्** योगाभ्यासपूर्वक **ईश्वरस्य** ईश्वर के **पदम्** प्राप्तव्य स्वरूप का **न ध्यातम्** ध्यान नहीं किया। **स्वर्ग-द्वार-कपाट-पाटन-पटुः** स्वर्ग-द्वार के कपाटों को खोलने में समर्थ **धर्मः** धर्म **अपि** भी **न उपार्जितः** संगृहीत नहीं किया और **स्वप्ने-अपि** स्वप्न में भी **नारी-पीन-पयोधर-उरु-युगलम्** स्त्री के दोनों बड़े-बड़े स्तनों और जंघाओं का **न-आलिङ्गितम्** आलिङ्गन नहीं किया, इस प्रकार न केवल मैं अपितु मेरे जैसे—**वयम्** हम सब **मातुः** माता के **यौवन-वनच्छेदे** यौवनरूपी वृक्ष को काटने में **केवलम्** मात्र **कुठाराः** कुल्हाड़े **एव** ही सिद्ध हुए।

भावार्थ—जिस मनुष्य ने न तो संसार-जाल को काटने के लिए योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर के प्रातव्य स्वरूप का ही ध्यान किया, न स्वर्गद्वार के कपाटों को खोलने में समर्थ धर्मरूपी धन का ही संग्रह किया और न ही स्वप्न में भी नारी के बड़े-बड़े स्तनों और जंघाओं का आलिङ्गन ही किया—ऐसे लोग माता के यौवनरूपी वृक्ष को काटनेवाले कुल्हाड़े के समान ही हैं।

विमर्श—संसार में आकर मनुष्य को तीन काम करने चाहिएँ—

१. संसार-सागर से पार उतरने के लिए, मोक्ष-प्राप्ति के लिए परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिए। परमेश्वर के सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान और ओम् का जप करना चाहिए।

२. स्वर्ग-द्वार के कपाटों को खोलनेवाले धर्म का सञ्चय करना चाहिए। धर्म से दोनों लोक बनते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

—वैशेषिक० १।१।२

जिन नियमों के आचरण एवं अनुष्ठान से दोनों लोकों की अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो उसका नाम धर्म है।

३. गृहस्थधर्म का पालन करते हुए अर्थ-उपार्जनपूर्वक काम-उपभोग करना चाहिए, अपने राष्ट्र के लिए सुनागरिक प्रदान करने चाहिएँ।

जिसके जीवन में न भक्ति है, न धर्म और न कामोपभोग—ऐसा मनुष्य अपनी माता के यौवनरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ा ही है।

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं न स्त्रीणामेकतो रतिः ॥२॥

शब्दार्थ—कुलटाएँ **अन्येन** दूसरे के **सार्धम्** साथ **जल्पन्ति** बातचीत करती हैं, **अन्यम्** किसी अन्य को **सविभ्रमाः** हाव-भाव के साथ, विलास-पूर्वक **पश्यन्ति** देखती हैं और **हृदये** हृदय में **अन्यम्** और ही किसी का **चिन्तयन्ति** चिन्तन करती हैं, **स्त्रीणाम्** कुलटाओं, वेश्याओं की, **एकतः** एक से **रतिः न** प्रीति नहीं होती।

भावार्थ—कुलटाएँ [वेश्याएँ] बातचीत तो किसी के साथ करती हैं, विलासपूर्वक देखती किसी और को हैं और हृदय में किसी अन्य पुरुष का ही चिन्तन करती हैं। ठीक ही है, वेश्याओं की प्रीति किसी एक के साथ नहीं होती।

विमर्श—पुरुषों को स्त्रियों—वारवनिताओं [वेश्याओं] में अनुरक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोर्
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥

—मृच्छ० ४।१४

ये वेश्याएँ धन-प्राप्ति के लिए धन देनेवाले के मनोरञ्जनार्थ हँसती हैं और मनुष्य को ठगने के लिए झूठ-मूठ रोती हैं तथा कामी पुरुषों को

हावभाव आदि प्रदर्शनपूर्वक विश्वास दिलाती हैं कि "मैं तुम्हारी ही हूँ"—परन्तु ये स्वयं किसी पर भी विश्वास नहीं करतीं; अतः उच्चकुल एवं उत्तम स्वभाववाले पुरुष को चाहिए कि वह वेश्याओं को श्मशान-भूमि में उत्पन्न होनेवाले मालती के पुष्प के समान त्याग दे अर्थात् रूपशीलयुक्त भी वेश्या विश्वास के योग्य नहीं होती।

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मयि कामिनी।
स तस्य वशगो भूत्वा नृत्येत् क्रीडा-शकुन्तवत् ॥३॥

शब्दार्थ—**यः** जो **मूढः** मूर्ख **मोहात्** अविवेक के कारण **मन्यते** ऐसा समझता है कि **इयम्** यह **कामिनी** मनोहर और सुन्दरी स्त्री **मयि रक्ता** मुझमें अनुरक्त है, मुझसे प्रेम करती है, **सः** वह मनुष्य **तस्याः** उसके **वशगः** वशीभूत **भूत्वा** होकर **क्रीडा-शकुन्तवत्** खेल के पक्षी [कठपुतली] के समान **नृत्येत्** नाचा करता है।

भावार्थ—जो मूर्ख अज्ञान-अविवेक के कारण ऐसा समझता है कि यह मनोहर और सुन्दर स्त्री [वेश्या] मुझसे प्रेम करती है, ऐसा मनुष्य उसके वशीभूत होकर कठपुतली की भाँति उसके इशारों पर नाचा करता है।

विमर्श—वेश्याओं का विश्वास नहीं करना चाहिए—

स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या॥

—मृच्छ० ४।१३

स्त्रियों=वेश्याओं में अनुराग नहीं रखना चाहिए, क्योंकि वेश्याएँ अनुरक्त पुरुष का भी अनादर करती हैं। अपने ऊपर अनुरक्त अपनी पत्नी के साथ ही रमण करना चाहिए। जो विरक्ता हो उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः।
कः कालस्य न गोचरत्वमगमत्कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पथि ॥४॥

शब्दार्थ—**अर्थान् प्राप्य** धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य पाकर **कः** कौन **गर्वितः न** अभिमानी नहीं हुआ? **कस्य** किस **विषयिणः** विषय-लोलुप की **आपदः**

आपत्तियाँ **अस्तम् गतः** नष्ट हुईं ? **भुवि** पृथिवी पर **कस्य** किसका **मनः** मन **स्त्रीभिः** नारियों द्वारा **न खण्डितम्** खण्डित नहीं हुआ ? **नाम** वस्तुतः **राज्ञां प्रियः कः** सदा राजा का प्रिय कौन हुआ ? **कः** कौन **कालस्य** काल की **गोचरत्वम्** दृष्टि में **न अगमत्** नहीं आया, अर्थात् काल के वश में कौन नहीं हुआ ? **कः** किस **अर्थी** याचक ने **गौरवम्** गौरव **गतः** पाया ? **वा** अथवा **कः** कौन **दुर्जन-वागुरासु** दुर्जन के फंदे में **पतितः** फँसकर **पथि** संसार के पथ में **क्षेमेण** कुशलता से **यातः** गया ?

भावार्थ—ऐश्वर्य पाकर अभिमानी कौन नहीं हुआ ? किस विषय-लोलुप की विपत्ति नष्ट हुई ? संसार में किसके मन को स्त्रियों ने खण्डित नहीं किया ? यथार्थ में राजा का निरन्तर प्रिय कौन हुआ ? काल के वश में कौन नहीं हुआ ? किस याचक ने गौरव पाया ? दुर्जन के फंदे में फँसकर संसार के पथ में कुशलता से कौन गया ?

विमर्श—उपर्युक्त सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है---कोई नहीं। परन्तु संसार में अपवाद भी हैं—

चक्रवर्ती राज्य पाकर भी भरत को अभिमान नहीं हुआ। महर्षि दयानन्द के मन को स्त्रियाँ खण्डित नहीं कर सकीं। पण्डित मदनमोहन मालवीय सबसे बड़े भिखारी माने जाते हैं। उन्होंने हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी के लिए करोड़ों रुपये दान माँग-माँगकर एकत्र किये फिर भी उन्होंने गौरव पाया।

न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वः
न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः।
तथाऽपि तृष्णा रघुनन्दनस्य
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥५॥

शब्दार्थ – **हेममयः** सोने का **कुरङ्गः** मृग, हिरन **न निर्मितः** न तो किसी के द्वारा निर्मित हुआ, **न दृष्ट-पूर्वः** न पहले कभी देखा ही गया और **न श्रूयते** न किसी से सुना ही गया, **तथा अपि** फिर भी **रघुनन्दनस्य** श्रीरामचन्द्रजी की **तृष्णा** इच्छा उसे पाने की हुई। ठीक ही है **विनाशकाले** विनाश का समय उपस्थित होने पर **विपरीतबुद्धिः** मनुष्य की बुद्धि उलटी हो जाती है।

भावार्थ—स्वर्णमृग की रचना न तो पहले किसी ने की, न किसी ने स्वर्णमृग देखा ही और न कभी उसके सम्बन्ध में सुना ही गया फिर

भी श्रीराम स्वर्णमृग को पकड़ने के लिए आतुर हो गये। ठीक ही है, जब विनाश का समय आता है, तब मनुष्य की बुद्धि उलटी हो जाती है।

विमर्श—वाल्मीकि रामायण के अनुसार लक्ष्मणजी ने श्रीराम को स्वर्णमृग को देखते ही कह दिया था कि यह मारीच है। श्रीराम के वन-गमन का उद्देश्य था—राक्षसों का विनाश। श्रीराम जान-बूझकर मारीचरूपी स्वर्णमृग के पीछे गये थे।

गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥६॥

शब्दार्थ—मनुष्य **गुणैः** दया, दान, दाक्षिण्य [चतुरता], नम्रता आदि श्रेष्ठ गुणों द्वारा **उत्तमताम्** उत्तमता, श्रेष्ठता को **याति** प्राप्त होता है, **उच्चैः** ऊँचे **आसन-संस्थितः न** आसन पर बैठने से उच्चता को प्राप्त नहीं होता। **किम्** क्या **प्रासाद-शिखरस्थः** राजभवन पर बैठा हुआ **अपि** भी **काकः** कौआ **गरुडायते** गरुड़ बन सकता है ? कदापि नहीं।

भावार्थ—मनुष्य अपने श्रेष्ठगुणों, सदाचार, शील और चरित्र द्वारा उत्तमता को प्राप्त होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। क्या राज-भवन की चोटी पर बैठने से कौआ गरुड़ बन सकता है ? कदापि नहीं।

विमर्श—इस विषय पर निम्न श्लोक का भी रसास्वादन कीजिए—

इह तुरगशतैः प्रयान्ति मूढाः
धनरहितास्तु बुधाः प्रयान्ति पद्भ्याम्।
गिरिशिखरगताऽपि काकपंक्तिः
पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥

सैकड़ों घोड़ों पर चलनेवाले मूर्ख लोग पैदल चलनेवाले धनरहित बुद्धिमानों की बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि पर्वत के शिखर पर निवास करनेवाले कौए नदी-तट पर विहार करनेवाले हंसों की बराबरी नहीं कर सकते।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः।
पूर्णेन्दु किं तथा वन्द्यो निष्कलङ्को यथा कृशः ॥७॥

शब्दार्थ—**सर्वत्र** सभी स्थानों पर **गुणाः** मनुष्य के गुण **पूज्यन्ते** पूजे

जाते हैं, गुणों का आदर-सम्मान होता है, **महत्यः** प्रभूत **सम्पदः** सम्पत्ति होने पर **अपि** भी **न** गुणहीन मनुष्य का सत्कार नहीं होता। **पूर्ण-इन्दुः** [पूर्णिमा का] पूर्ण चन्द्र **किम्** क्या **तथा** वैसा **वन्द्यः** वन्दित होता है **यथा** जैसा **कृशः** अत्यन्त क्षीण प्रकाशवाला परन्तु **निष्कलङ्कः** कलङ्क-[धब्बों से]-रहित द्वितीया का चन्द्रमा ? कदापि नहीं।

भावार्थ—सभी स्थानों पर मनुष्यों के गुणों का आदर होता है, विपुल सम्पत्ति होने पर भी गुणहीन मनुष्य का सम्मान नहीं होता। अत्यन्त क्षीण प्रकाशवाला परन्तु निष्कलङ्क [धब्बों से रहित] द्वितीया का चन्द्रमा जैसा पूजित होता है क्या पूर्णचन्द्र भी वैसा ही वन्दित होता है ? कदापि नहीं।

विमर्श—महाकवि भवभूति ने भी कहा है—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

—उत्तरराम० ४।११

गुणियों का सम्मान गुणों के कारण ही होता है, स्त्री-पुरुष के भेद अथवा वयस्=अवस्था के कारण नहीं।

पर-प्रोक्तगुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥८॥

शब्दार्थ—**यः** जो मनुष्य **तु** तो **पर-प्रोक्त-गुणः** दूसरों के द्वारा प्रशंसित होता है, वह **निर्गुणः** गुणरहित होने पर **अपि** भी **गुणी** गुणवान् **भवेत्** हो जाता है, परन्तु **स्वयं** अपने मुख से **गुणैः** अपने गुणों की **प्रख्यापितैः** प्रशंसा करने से **इन्द्रः** देवराज इन्द्र **अपि** भी **लघुताम्** क्षुद्रता को **याति** प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के गुणों की प्रशंसा अन्य लोग करें वह गुण-हीन होने पर भी गुणी बन जाता है परन्तु इन्द्र भी अपने मुख से अपनी प्रशंसा करे तो वह क्षुद्रता=हल्केपन, छोटेपन को प्राप्त हो जाता है।

विमर्श—मनुष्य को अपने जीवन में शुभ गुणों का विकास करना चाहिए। मनुष्य के गुणों की सुगन्धि से जीवनरूपी पुष्प महक उठे और गुणलोभी भ्रमर उसपर मंडराने लगें। मनुष्य जीवन में गुणों का संचय करे परन्तु अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करे, क्योंकि अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनने से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है, साधारणजनों की तो बात ही क्या है। कविवर रहीम ने ठीक ही कहा है—

बड़े बड़ाई न करें बड़े न बोलें बोल।
रहिमन हीरा कब कहे लाख टका मेरो मोल॥

विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम् ।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम् ॥९॥

शब्दार्थ—**गुणाः** गुण **विवेकिनम्** सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को समझनेवाले विवेकी पुरुष को **अनुप्राप्ताः** पाकर **मनोज्ञताम्** सुन्दरता को **यान्ति** प्राप्त होते हैं, खिल उठते हैं, **चामीकर-नियोजितम्** सोने में जड़ा हुआ **रत्नम्** हीरा **सुतराम्-आभाति** अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है।

भावार्थ—गुण विवेकी मनुष्य को पाकर विकसित हो उठते हैं, जैसे सोने में जड़ा हुआ रत्न अत्यन्त सुन्दर दिखाई देने लगता है।

गुणैः सर्वज्ञतुल्योऽपि सीदत्येको निराश्रयः ।
अनर्घ्यमपि माणिक्यं हेमाश्रयमपेक्षते ॥१०॥

शब्दार्थ—**गुणैः** गुणों से **सर्वज्ञतुल्यः** सर्वज्ञ परमेश्वर के समान होता हुआ **अपि** भी **निराश्रयः** आश्रयहीन **एकः** अकेला मनुष्य **सीदति** दुःख उठाता है। **अनर्घ्यम्** अत्यन्त मूल्यवान् **माणिक्यम्** माणिक्य [लाल, हीरा] **अपि** भी **हेम-आश्रयम्** सोने में जड़े जाने की **अपेक्षते** अपेक्षा रखता है।

भावार्थ—गुणों में परमात्मा के समान होने पर भी अकेला मनुष्य दुःख उठाता है। जैसे अत्यन्त मूल्यवान् हीरा भी सोने में जड़े जाने की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी कोई सहारा चाहता है।

विमर्श—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेला [बिना सहारे के] नहीं रह सकता। आरम्भ में वह माता-पिता का सहारा खोजता है, फिर साथियों का, पत्नी का, परिवार का सहारा खोजता है। ये सभी सहारे अच्छे हैं परन्तु इनमें से स्थायी एक भी नहीं है। ये सारे सहारे बिछुड़नेवाले हैं। मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सहारा तो परमात्मा है। मनुष्य को उसी के साथ सम्बन्ध जोड़कर अपने जीवन का उद्धार और कल्याण करना चाहिए।

अतिक्लेशेन य चार्था धर्मस्यातिक्रमेण तु ।
शत्रूणां प्रणिपातेन ते ह्यर्था मा भवन्तु मे ॥११॥

शब्दार्थ—**ये** जो **अर्थाः** धन **अतिक्लेशेन** अत्यन्त कष्ट अर्थात् चोरी, जारी, हिंसा, लूट-मार, दूसरों का अधिकार छीनकर प्राप्त होते हैं **च** और **तु** जो धन **धर्मस्य-अतिक्रमेण** धर्म को तिलाञ्जलि देकर, धर्म का उल्लंघन करके तथा **शत्रूणाम्** शत्रु के सामने **प्रणिपातेन** झुकने से प्राप्त होते हैं **हि** निश्चय ही **ते** वे **अर्थाः** धन **मे** मुझे **मा भवन्तु** प्राप्त न हों अर्थात् ऐसा धन मुझे नहीं चाहिए।

भावार्थ—जो धन दूसरों को हानि तथा पीड़ा पहुँचाकर, धर्म का उल्लंघन करके और शत्रु के सामने झुकने से प्राप्त होता है, ऐसा धन मुझे नहीं चाहिए।

विमर्श—मनुष्य धन कमाये परन्तु अन्यायपूर्ण धन में कभी मन न लगाये। मनुष्य को दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि अन्याय के एक पैसे को भी घर में नहीं आने दूँगा। अधर्म से प्राप्त धन से घर में सुख और शान्ति कभी नहीं हो सकती।

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या तु वेश्येव सा मान्या पथिकैरपि भुज्यते ॥१२॥

शब्दार्थ—**तया** उस **लक्ष्म्या** धन-सम्पत्ति से **किम्** क्या **क्रियते** किया जा सकता है, क्या लाभ है **या** जो सम्पत्ति **वधूः** घर की वधू के **इव** समान **केवला** एक के उपभोग के लिए ही है। **या** जो सम्पत्ति **तु** तो **वेश्या इव** वेश्या के समान **पथिकैः** पथिकों द्वारा **अपि** भी **भुज्यते** भोगी जाती है, **सा** वही धन-सम्पत्ति **मान्या** श्रेष्ठ है।

भावार्थ—उस धन से क्या लाभ जो कुलवधू की भाँति केवल एक मनुष्य के उपभोग के लिए हो। धन-सम्पत्ति तो वही श्रेष्ठ है, जो वेश्या की भाँति पथिकों द्वारा भी भोगी जाती हो।

विमर्श—धन का फल है दान। जो धन केवल एक मनुष्य के भोग-विलास के लिए है, ऐसा धन धन नहीं है, वह तो उस मनुष्य की मौत है। धन वही श्रेष्ठ है जो दूसरों द्वारा भी भोगा जाए, जिससे परोपकार हो, प्राणिमात्र का कल्याण हो, मानवमात्र की सेवा हो।

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१३॥

शब्दार्थ—**धनेषु** धन के विषय में, **जीवितव्येषु** जीवन, आयु के सम्बन्ध में **स्त्रीषु** स्त्री-सेवन के विषय में **च** और **आहारकर्मसु** अन्न-

सेवन के सम्बन्ध में **सर्वे** सभी **प्राणिनः** प्राणी **अतृप्ताः** असन्तुष्ट रहकर **याता** गये हैं, **यास्यन्ति** जाएँगे **च** और **यान्ति** जाते हैं ।

भावार्थ—धन, ऐहिक जीवन, स्त्री-सेवन और विविध प्रकार के अन्न-सेवन के विषय में सभी प्राणी अतृप्त रहकर ही चले गये, जाएँगे और जाते हैं ।

विमर्श—मनुष्य की भूख कभी शान्त नहीं होती—

जो दस बीस पचास भये सत,
होई हजार तु लाख मंगैगी,
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
पृथिपति होन की चाह जगेगी ।
स्वर्ग-पाताल को राज करौ,
तृस्ना आधि की अति आग लगेगी,
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना सठ,
तेरी तो भूख कभी न भगेगी ।।

दीर्घ-से-दीर्घ जीवन भी छोटा ही है । मनुष्य को आयु के पश्चात् आयु मिलती रहे तो भी उसकी सन्तुष्टि नहीं होगी ।

यही स्थिति स्त्री-सेवन और आहार-सेवन के विषय में भी है—

यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसा कामहतस्य ते ।।

—भागवत० ९।१९।१३

इस पृथिवी पर जितना चावल, जौ [धान्य], सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब भी यदि एक मनुष्य को मिल जाएँ तो भी जो मनुष्य कामवासना से ग्रस्त है, तृष्णा का सताया हुआ है, उसके मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं ।

क्षीयन्ते सर्वदानानि यज्ञहोमबलिक्रियाः ।
न क्षीयते पात्रदानमभयं सर्वदेहिनाम् ।।१४।।

शब्दार्थ—**सर्व-दानानि** अन्न, जल, वस्त्र, भूमिदान आदि, **यज्ञ-होम-बलि-क्रियाः** तथा ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ=अग्निहोत्र और बलिवैश्वदेव यज्ञ—ये सभी कर्म **क्षीयन्ते** नष्ट हो जाते हैं परन्तु **पात्रदानम्** सुपात्र को दिया हुआ दान और **सर्व-देहिनाम्** प्राणिमात्र के लिए **अभयम्** अभयदान **न क्षीयते** कभी नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—अन्न, जल, वस्त्र, भूमिदान आदि सब प्रकार के दान तथा ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ आदि सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं परन्तु सुपात्र को दिया गया दान और प्राणिमात्र को दिया गया अभय-दान कभी नष्ट नहीं होता।

विमर्श—सुपात्र कौन है? जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेदज्ञ, धर्मात्मा, सत्यवादी, उदार, परोपकारप्रिय, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक-रहित, अभिमान-शून्य, गम्भीराशय, सदाचार-युक्त, दुष्टाचार-रहित, पराये सुख के लिए अपने प्राणों को भी समर्पित करनेवाला, निर्भय, उत्साही, आदि शुभ लक्षणयुक्त मनुष्य को सुपात्र कहते हैं। ऐसे मनुष्य को दिया हुआ दान अक्षय होता है।

अभयदान की महिमा में कहा गया है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥

—महा॰ शान्ति॰ १६२।४

जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसे समस्त प्राणियों में किसी से भी कहीं भी भय नहीं होता।

तृणं लघु तृणात्तूलं तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति ॥१५॥

शब्दार्थ—**तृणम्** तिनका **लघु** अत्यन्त हल्का होता है परन्तु **तृणात्** तिनके से भी **तूलम्** रूई हल्की होती है **च** और **तूलात्** रूई से **अपि** भी **याचकः** याचक [माँगनेवाला] हल्का होता है। यदि ऐसी बात है तो **असौ** वह याचक **वायुना** वायु के द्वारा **किम्** क्यों **न नीतः** नहीं उड़ाया गया, अर्थात् वायु उसे उड़ाकर क्यों नहीं ले गई? **अयम्** यह याचक **माम्** मुझसे **अपि** भी **याचयिष्यति** कुछ माँगेगा—इस भय से उसे उड़ाकर नहीं ले गई।

भावार्थ—संसार में तिनका अत्यन्त हल्का होता है, तिनके से भी रूई अधिक हल्की होती है और रूई से भी याचक अधिक हल्का होता है। प्रश्न होता है कि यदि याचक रूई से भी हल्का होता है तो वायु उसे उड़ाकर क्यों नहीं ले जाता? उत्तर है कि यह याचक मुझसे भी कुछ माँग न बैठे, इस भय से वायु उसे उड़ाकर नहीं ले जाता।

विमर्श—माँगना सबसे निकृष्ट कर्म है—

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जाँहि ।
उनते पहले वे मुये जिन मुख निकसत नाँहि ।।

और कबीरजी ने कहा है—

आब गयी आदर गया नैनन गया सनेहु ।
ये तीनों तब ही गये जब ही कहा कछु देहु ।।

वरं प्राणपरित्यागो मानभङ्गेन जीवनात् ।
प्राणत्यागे क्षणं दुःखं मानभङ्गे दिने दिने ।।१६।।

शब्दार्थ—**मानभङ्गेन** अपमानपूर्वक **जीवनात्** जीने से **प्राण-परित्यागः** मर जाना **वरम्** श्रेष्ठ है, क्योंकि **प्राण-त्यागे** मरने के समय **क्षणम्** क्षणभर के लिए **दुःखम्** दुःख होता है परन्तु **मानभङ्गे** अपमान होने पर **दिने दिने** प्रतिदिन कष्ट और क्लेश होता है ।

भावार्थ—अपमानित होकर जीने की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि मरने के समय तो क्षणभर के लिए कष्ट होता है परन्तु अपमानित होने पर तो प्रतिदिन ही दुःख होता है ।

विमर्श—अपमानपूर्वक जीने से मृत्यु अच्छी है । एमर्सन [Emerson] ने लिखा है—

"अपमानपूर्वक हजार वर्ष जीने की अपेक्षा सम्मान के साथ एक घड़ीभर जीना अच्छा है ।"

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ।।

—शिशु० २।४६

जो धूलि पैर से आहत होने पर उड़कर आहतकर्ता के सिर पर चढ़ जाती है, वह अपमान होने पर भी शान्त बने रहनेवाले शरीरधारी मनुष्य से श्रेष्ठ है ।

सदा ध्यान रखो—

घटने न देना मान को, करना मोह मत धन-धान्य का ।
यदि मान ही जाता रहा तो धन रहा किस काम का ।।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ।।१७।।

शब्दार्थ—**प्रिय-वाक्य-प्रदानेन** मीठे वचन बोलने से **सर्वे** सब **जन्तवः**

प्राणी **तुष्यन्ति** प्रसन्न और सन्तुष्ट होते हैं। **तस्मात्** इसलिए **तत्-एव** मधुरवचन ही **वक्तव्यम्** बोलना चाहिए, क्योंकि **वचने** वचनों में **का** क्या **दरिद्रता** दरिद्रता।

भावार्थ—मधुरभाषण से, मीठी बोली से सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं, अतः प्रियवचन ही बोलने चाहिएँ, वाणी में अमृतरूपी मधुरता घोलनी चाहिए; वचनों में भी दरिद्रता कैसी ?

विमर्श—मधुरभाषण में सम्मोहन शक्ति होती है। मधुरभाषण सभी पर प्रभाव डालता है। वेद के शब्दों में हमें प्रार्थना करनी चाहिए—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।

—अथर्व० १।३४।२

मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर मिठास हो और मेरी जिह्वा के मूल [हृदय] में मधु का छत्ता हो।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधु संदृशः।

—अथर्व० १।३४।३

मैं वाणी से मीठा बोलूँ और चाल-ढाल में, उठने-बैठने में, रहन-सहन में—हर बात में मधु के समान माधुर्ययुक्त बन जाऊँ।

संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सङ्गतिः सुजने जने ॥१८॥

शब्दार्थ—**संसार-कटु-वृक्षस्य** संसाररूपी कड़वे वृक्ष के **अमृत-उपमे** अमृत से उपमा देने योग्य **द्वे** दो ही **फले** फल हैं—**सुस्वादु** अत्यन्त रसीला **सुभाषितम्** सोच-समझकर बोला गया प्रिय एवं मधुर वचन **च** तथा **सुजने जने** श्रेष्ठ पुरुषों के साथ **सङ्गतिः** संगति अर्थात् सज्जनों का सत्सङ्ग।

भावार्थ—संसाररूपी कड़वे वृक्ष के अमृत के समान मधुर दो ही फल हैं—रसीला प्रिय वचन और सज्जनों की सङ्गति।

विमर्श—संसार को कटुवृक्ष कहा गया है। इसे विषवृक्ष भी कहते हैं। इस कटु वृक्ष के दो फल कड़वे न होकर अत्यन्त मीठे हैं, अमृत के समान गुणकारी हैं—१. मधुरवचन और २. सज्जनों की सङ्गति।

मनुष्य को चाहिए कि वह सदा मीठा ही बोले। प्रत्येक मनुष्य की भावना हो—

मधुमतीं वाचमुदेयम् । —अथर्व० १६।२।२

मैं मधुर वाणी ही बोलूँ ।

हम सदा श्रेष्ठ पुरुषों की सङ्गति में रहें—

देवाना ँ सख्यमुपसेदिमा वयम् । —यजु० २५।१५

हम देवों=विद्वानों, महापुरुषों की मित्रता को पाएँ, उनकी संगति में रहें ।

जन्म-जन्मन्यभ्यस्तं यद् दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाऽभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥१९॥

शब्दार्थ—**जन्म-जन्मनि** जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य ने **यत्** जिस **दानम्** दान, **अध्ययनम्** विद्याभ्यास और **तपः** तप [गरमी-सरदी, हानि-लाभ आदि द्वन्द्व सहन] का **अभ्यस्तम्** अभ्यास किया है, **तेन** उस **एव** ही **अभ्यास-योगेन** अभ्यास के योग से **पुनः** फिर **तत्-एव** उसी का **अभ्यस्यते** अभ्यास करता है ।

भावार्थ—जन्म-जन्मान्तरों में मनुष्य ने जिस दान, अध्ययन और तप का अभ्यास किया है, उसी अभ्यास के योग से वह पुनः-पुनः उनका अभ्यास करता है ।

विमर्श—मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका स्वभाव और अभ्यास बन जाता है। जन्म-जन्मान्तर में वह दान आदि जो भी शुभ कर्म करता है, अभ्यास बन जाने के कारण अगले जन्म में वह फिर उसी प्रकार के कर्म करता है, अतः दान, योगाभ्यास, विद्या-अध्ययन, धर्माचरण, तप-अनुष्ठान, परोपकार, सेवाभावना को अपने जीवन का अङ्ग बनाना चाहिए ।

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम् ।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम् ॥२०॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

शब्दार्थ—**या** जो **विद्या** विद्या=ज्ञान **पुस्तकेषु** पुस्तकों में है **च** और **यत्** जो **धनम्** धन **परहस्तेषु** दूसरे के हाथों में है **कार्येषु-उत्पन्नेषु** कार्य उपस्थित होने [काम-पड़ने] पर **न सा विद्या** न वह विद्या काम देती है **च** और **न तत् धनम्** न वह धन ही किसी काम आता है ।

भावार्थ—जो विद्या पुस्तकों में लिखी हुई है और जो धन दूसरों के हाथों में है, काम पड़ने पर न तो वह विद्या काम आती है, न ही धन ।

विमर्श—'विद्या कण्ठ की और पैसा गंठ का'—यह लोकोक्ति ठीक ही है। विद्या वही काम देती है जो कण्ठस्थ हो, अतः अधिक-से-अधिक विद्या को कण्ठस्थ करने का प्रयत्न करना चाहिए। पैसा वही काम आता है जो अपनी गाँठ=जेब में हो। किसी ने ठीक ही कहा है—

पराधीनं वृथा जन्म परस्त्रीषु वृथा सुखम्।
परगेहे वृथा लक्ष्मीर्विद्या या पुस्तके वृथा॥

जो पराधीन है उसका जन्म व्यर्थ है, पर-स्त्रियों में रमण करके जो सुख प्राप्त होता है, वह भी व्यर्थ है। दूसरे के घर में रखी हुई सम्पत्ति व्यर्थ है और पुस्तकों में विद्यमान विद्या भी व्यर्थ है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में
सोलहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
सभामध्ये न शोभन्ते जारगर्भा इव स्त्रियः ।।१।।

शब्दार्थ—जिन्होंने **गुरु-सन्निधौ** गुरु के चरणों में बैठकर, गुरुमुख से **न-अधीतम्** विद्या-अध्ययन नहीं किया अपितु **पुस्तक-प्रत्यय-अधीतम्** पुस्तक के आधार पर ही पढ़ लिया, वे **सभामध्ये** सभा के बीच में **न शोभन्ते** ऐसे ही सुशोभित नहीं होते **इव** जैसे **जारगर्भाः** व्यभिचार से गर्भधारण करनेवाली **स्त्रियः** स्त्रियाँ शोभित नहीं होतीं ।

भावार्थ—जिन्होंने गुरुमुख से विद्या का अध्ययन नहीं किया अपितु पुस्तकों के आधार पर ही पढ़ लिया, वे लोग सभा के मध्य में ऐसे ही सुशोभित नहीं होते जैसे व्यभिचार-कर्म से गर्भधारण करनेवाली नारी जनसमाज में सुशोभित नहीं होती ।

विमर्श—विद्या के रहस्य गुरुमुख से ही खुलते हैं । गुरु कठिन-से-कठिन विषयों को अत्यन्त सरलता से समझा देते हैं । पुस्तक से पढ़कर शुद्ध उच्चारण नहीं सीखा जा सकता । यदि मनुष्य पुस्तकें पढ़कर ही विद्वान् बन जाते तब विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की आवश्यकता ही क्या थी ? गुरुमुख से अध्ययन किये विना तो वही दशा होगी—

बापै पूत पढ़ावे सोलह दूनी आठ ।

कृते प्रतिकृतं कुर्याद् हिंसने प्रतिहिंसनम् ।
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दुष्टं समाचरेत् ।।२।।

शब्दार्थ—**कृते** उपकार करनेवाले के प्रति **प्रतिकृतम्** प्रत्युपकार **कुर्यात्** करना चाहिए और **हिंसने** हिंसा करनेवाले के प्रति **प्रतिहिंसनम्** हिंसा का व्यवहार करना चाहिए, **तत्र** ऐसा करने पर **दोषः** दोष **न पतति** नहीं होता, कारण **दुष्टे** दुष्ट के प्रति **दुष्टम्** दुष्टता का **सम्+आचरेत्**

आचरण करना चाहिए, वही उचित होता है।

भावार्थ—जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना चाहिए। उपकारी के प्रति प्रत्युपकार और हिंसक के प्रति हिंसा का व्यवहार करना चाहिए। ऐसा करने से कोई दोष नहीं लगता, क्योंकि दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार ही उचित होता है।

विमर्श—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के सातवें नियम में लिखा है—

"सबके साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।"

उपकारी के प्रति प्रत्युपकार करना चाहिए परन्तु जो हमारा नाश करने पर उतारू है, हमारी संस्कृति, सभ्यता और धर्म का ही नाश करने पर तुला हुआ है, ऐसे दुष्टों का तो वध ही कर देना चाहिए। वेद का आदेश है—

मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः। —ऋ० ५।३०।६

हे मनुष्य ! तू मायावियों को मायाओं से मार गिरा।

महर्षि व्यास का कथन है—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

—महा० उद्या० ३७।७

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा व्यवहार करे उसके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, यह धर्म है। ठगी से व्यवहार करनेवाले के साथ ठगी का व्यवहार करना चाहिए और भला व्यवहार करनेवाले के साथ भलाई का व्यवहार करना चाहिए।

किसी कवि ने कहा है—

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं।
वे मतिमन्द मूढ नर निश्चय पराभूत हो मरते हैं॥

हाँ, एक बात स्मरण रखनी चाहिए, यह संन्यासियों का धर्म नहीं है, यह जनसाधारण और राजाओं का धर्म है।

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥३॥

शब्दार्थ—यत् जो दूरम् अत्यन्त दूर है यत् जो दुः आराध्यम्

कठिनता से आराधना करने योग्य है **च** और **यत्** जो दूरे अत्यन्त ऊँचाई पर **व्यवस्थितम्** वर्तमान है **तत्** वह **सर्वम्** सब-कुछ **तपसा** तप के द्वारा **साध्यम्** सिद्ध हो सकता है, **हि** क्योंकि **तपः** तप **दुः अतिक्रमम्** अनुल्लंघनीय और अत्यन्त प्रबल होता है।

भावार्थ—जो अत्यन्त दूर है, जिसकी आराधना करना अत्यन्त कठिन है, जो अत्यन्त ऊँचाई पर वर्तमान है, वह सब तप के द्वारा सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तप अत्यन्त प्रबल होता है।

विमर्श—तप से कठिन-से-कठिन कार्य सहज बन जाते हैं। तप से मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती है परन्तु तप है क्या ? एक पैर पर खड़े हो जाना, एक हाथ को ऊपर खड़ा कर लेना, अपने चारों ओर अग्नि जला लेना आदि का नाम तप नहीं है। तप का अर्थ है—द्वन्द्वों का सहना, गरमी-सरदी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, जीवन-मरण में सम रहना, भयंकर आपत्तियाँ और विपत्तियाँ आने पर भी धर्म को न छोड़ना।

किसी ने ठीक ही कहा है—

"तप की महिमा महान् है तप के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है। धीर पुरुष तप द्वारा ही संसार में उन्नति के पथ पर विराजमान होता है।"

जीवन में तपस्वी बनो, क्योंकि—

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृते गत्वाऽऽत्मनो गतिम्॥

यह शरीर क्षणभङ्गुर है। जो मनुष्य इसे पाकर तप का अनुष्ठान नहीं करता, वह मूर्ख मरने के पश्चात् जब उसे अपने कर्मों का फल मिलता है, तब पश्चात्ताप करता है।

तप करो परन्तु—

विनयेन विना चीर्णमभिमानेन संयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थमित्येतदवधार्यताम्॥

यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमानपूर्वक किया गया बड़ा भारी तप भी व्यर्थ होता है।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।

सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ।।४।।

शब्दार्थ—**चेत्** यदि **लोभः** लोभ है तो **अगुणेन** और किसी दुर्गुण की **किम्** क्या आवश्यकता है ? **यदि** यदि **पिशुनता अस्ति** चुगलखोरी का स्वभाव है तो **पातकैः किम्** और पातकों से क्या काम ? **च** और **चेत्** यदि **सत्यम्** जीवन में सत्य [सत्यवादिता, सत्याचरण] है तो **तपसा किम्** तप करने का क्या प्रयोजन ? **यदि** यदि **मनः** मन **शुचि अस्ति** पवित्र है तो **तीर्थेन किम्** जलमय तीर्थों में भ्रमण और स्नान करने से क्या लाभ ? **यदि** यदि **सौजन्यम्** सौहार्द, प्रेम है तो **गुणैः किम्** गुणों की क्या आवश्यकता है ? **यदि** यदि **सुमहिमा अस्ति** संसार में यश फैल रहा है तो **मण्डनैः किम्** अन्य आभूषणों से क्या प्रयोजन ? **यदि** यदि **सत्-विद्या** उत्तम विद्या है तो फिर **धनैः किम्** धन की क्या आवश्यकता है ? **यदि** यदि **अपयशः अस्ति** अपयश फैला हुआ है तो **मृत्युना किम्** मृत्यु से क्या अर्थात् वह तो जीते-जी मरा हुआ है।

भावार्थ—यदि लोभ है तो अन्य दुर्गुण की क्या आवश्यकता है ? यदि चुग़लखोरी का स्वभाव है तो और पातकों का क्या काम ? यदि जीवन में सत्य है तो तप करने की क्या आवश्यकता है ? यदि मन शुद्ध और पवित्र है तो तीर्थों में भटकने का क्या लाभ ? यदि प्रेम है तो और गुणों की क्या आवश्यकता ? यदि यश है तो आभूषणों की क्या आवश्यकता है ? यदि श्रेष्ठ विद्या है तो धन की क्या आवश्यकता है ? यदि अपयश है तो मृत्यु से क्या ?

विमर्श—यदि लोभ है तो अन्य दुर्गुणों की कोई आवश्यकता नहीं है। लोभरूपी अकेला दुर्गुण अन्य सब दुर्गुणों को खींच लाएगा। लोभ सारे दुर्गुणों की खान है—

लोभ पाप का मूल है लोभ मिटावत मान।
लोभ न कबहूँ कीजिये या में नरक निदान ।।

और भी कहा है—

ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुण आगार।
केहि की लोभ विडम्बना कीन्ह न एहि संसार ।।

यदि चुग़लखोरी का स्वभाव है तो अन्य पाप स्वयं आ जाएँगे—

गुणिनां गुणेषु सत्स्वपि पिशुनजनो दोषमात्रमादत्ते।
पुष्पे फले विरागी क्रमेलकः कण्टकौघमिव ।।

जैसे ऊँट को किसी वृक्ष के फल-फूल में अनुराग नहीं होता, उसे तो काँटों का ढेर ही अभीष्ट होता है, वैसे ही गुणियों में अनेक गुणों के विद्यमान रहने पर भी चुग़लखोर उनमें दोष ही ढूँढता है और उन्हीं को ग्रहण करता है।

किसी ने ठीक ही कहा है—

"चुग़लखोर कुत्ते के समान है, क्योंकि दोनों ही अपनी जीभ से सत्पात्र [शुद्धपात्र या सज्जन मनुष्य] को दूषित करते हैं, कलह करने में पक्के होते हैं और दोनों ही सदा अशुद्ध रहते हैं।"

यदि जीवन में सत्यवादिता और सत्य का आचरण है तो तप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सत्य से बढ़कर और कोई तप नहीं है—

साँच बराबर तप नहीं झूँठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है ता हिरदे प्रभु आप॥

मन निर्मल है तो तीर्थों में भटकने की क्या आवश्यकता है—

तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्।

—शंकराचार्य, प्रश्नोत्तरी ८

सबसे उत्तम तीर्थ अपना मन है, जो विशेष रूप से शुद्ध किया गया हो।

यदि प्रेम है तो अन्य गुणों की क्या आवश्यकता है? प्रेम हृदयों को मिलाता है। प्रेम-गङ्गा में स्नान करके राक्षस भी देवता बन जाते हैं।

यश है तो आभूषण पहनने का कोई लाभ नहीं। यश ही सबसे बड़ा आभूषण है—

नहीं मोहताज[1] ज़ेवर का जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी।
कैसा ख़ुशनुमा[2] लगता है देखो चाँद बिन गहने॥

विद्या है तो और किसी धन की आवश्यकता नहीं है।

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।

विद्या-धन सब धनों से बढ़कर है।

अपयश है तो मृत्यु से क्या? अपयश तो जीते-जी मनुष्य की मृत्यु है—

मृत्युश्च को वापयशः स्वकीयम्।

—शंकराचार्य, प्रश्नो० ६

---

१. अपेक्षा रखनेवाला, २. सुन्दर

मृत्यु क्या है ? अपनी अपकीर्ति ।
श्रीकृष्णजी ने भी अर्जुन से कहा था—

सम्भावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते ।

—गीता २।३४

सम्मानित व्यक्ति के लिए उसका अपयश मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है।

पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरा ।
शङ्खो भिक्षाटनं कुर्यान्नाऽदत्तमुपतिष्ठते ॥५॥

शब्दार्थ—**यस्य** जिसका **पिता** पिता **रत्न+आकरः** रत्नों का भण्डार समुद्र है। **यस्य** जिसकी **सहोदरा** बहिन **लक्ष्मीः** लक्ष्मी है, **शङ्खः** शशि के समान चमकता हुआ ऐसा शंख **भिक्षा-अटनम् कुर्यात्** भीख माँगता फिरे तो समझना चाहिए कि **अदत्तम्** बिना दिया हुआ **न उपतिष्ठते** प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—समुद्र जिसका पिता है, लक्ष्मी जिसकी बहिन है, चन्द्रमा के समान चमकता हुआ ऐसा शंख भी यदि भीख माँगता फिरे तो समझ लेना चाहिए कि बिना दान दिये धन नहीं मिलता।

विमर्श—दुःखों से बचने और सुखों की प्राप्ति के लिए दान देना चाहिए—

दारिद्र्य-व्याधि-दुःखानि बन्धनं व्यसनानि च ।
अदातुः फलमेतानि तस्माद् दानं विशिष्यते ॥

—चाणक्यसारसंग्रहः १।९८

दरिद्रता, रोग, दुःख, बन्धन और व्यसन—ये सब दान न देने के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं, इनसे बचने के लिए दान देना चाहिए।

बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षाद्वारा गृहे गृहे ।
दीयतां दीयतां नित्यमदातुः फलमीदृशम् ॥

भिक्षुक लोग भीख नहीं माँगते हैं, अपितु वे घर-घर जाकर, भिक्षा माँगते हुए, लोगों को बोध प्रदान करते हैं कि सदा दान दो, दान न देने का फल होता है हमारी भाँति माँगना।

अशक्तस्तु भवेत्साधुर्ब्रह्मचारी च निर्धनः ।
व्याधिष्ठो देवभक्तश्च वृद्धा नारी पतिव्रता ॥६॥

शब्दार्थ—**अशक्तः** शक्तिहीन, निर्बल व्यक्ति **साधुः** सज्जन **भवेत्** बनता है **च** और **निर्धनः** निर्धन [विवाह न होने के कारण] **ब्रह्मचारी** ब्रह्मचारी रह जाता है। **व्याधिष्ठः** रोगग्रस्त [दुःखी रहने के कारण] **देवभक्तः** प्रभु का उपासक बन जाता है **च** तथा **वृद्धानारी** वृद्धा स्त्री [यौवन बीत जाने के कारण] **पतिव्रता** पतिव्रता बन बैठती है।

भावार्थ—दुर्बल व्यक्ति सज्जन बन जाता है, निर्धन ब्रह्मचारी बन जाता है, रोगग्रस्त प्रभु-भक्त बन जाता है और वृद्धास्त्री पतिव्रता बन जाती है।

विमर्श—दुर्बल साधु बन जाता है। यह विवशता का साधुपन है। यदि शक्ति आ गई तो यह पुनः हिंसक और क्रूर बन सकता है।

निर्धन ब्रह्मचारी बन जाता है, विवशता से अविवाहित रह जाता है। धन नहीं है, कोई लड़की देने को तैयार नहीं है, अतः ब्रह्मचारी बन गया। यह निर्धनता का ब्रह्मचर्य है। यदि कहीं से धन की प्राप्ति हो गई तो ब्रह्मचर्य भी समाप्त।

सुखी और स्वस्थ मनुष्यों की देवताओं तथा धर्म पर भले ही श्रद्धा न हो परन्तु दुःख आने पर और रोगी होने पर वे प्रायः प्रभु-उपासक और श्रद्धालु बन जाते हैं।

वृद्धा नारी भोग-विलास में अशक्त होने के कारण पतिव्रता बन जाती है।

नाऽन्नोदकसमं दानं न तिथिर्द्वादशी समा।
न गायत्र्याः परो मन्त्रो न मातुः परं दैवतम् ॥७॥

शब्दार्थ—**अन्न-उदक-समम्** अन्न और जल के समान **दानम्** **न** और कोई दान नहीं है। **द्वादशी-समा** द्वादशी के समान **तिथिः** **न** कोई तिथि नहीं है। **गायत्र्याः** गायत्री से **परः** बढ़कर **मन्त्रः** मन्त्र **न** नहीं है और **मातुः** माता से **परम्** श्रेष्ठ **दैवतम्** **न** कोई देवता नहीं है।

भावार्थ—अन्न और जल के समान कोई दान नहीं है, द्वादशी के समान कोई तिथि नहीं है, गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है और माता से बढ़कर कोई देवता नहीं है।

विमर्श—अन्न और जल के समान कोई दान नहीं है—

अन्नं वै प्राणिनां प्राणा अन्नमोजो बलं सुखम्।
तस्मात्कारणात्सद्भिरन्नदः प्राणदः स्मृतः ॥

—भविष्य० उत्तर० १६९।३०

अन्न प्राणियों का प्राण है। अन्न ही ओज, बल और सुख है। इस लिए श्रेष्ठ पुरुष अन्नदाता को प्राणदाता कहते हैं।

जल भी जीवन है, अतः जलदान भी श्रेष्ठ है।

द्वादशी के समान कोई तिथि नहीं है—

सब तिथियाँ परमात्मा की बनाई हुई हैं, अतः सभी अच्छी हैं, कोई तिथि बुरी नहीं है। हाँ, द्वादशी को सर्वश्रेष्ठ बताकर एकादशी के माहात्म्य का अवश्य खण्डन कर दिया है।

गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है—

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम्॥

गायत्री से बढ़कर कोई जप, तप, ध्यान और यज्ञ नहीं है।

माता से बढ़कर कोई देवता नहीं है—

नास्ति मातृसमो गुरुः। —महा० अनु० १०५।१५

माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है।

तक्षकस्य विषं दन्ते मक्षिकायास्तु मस्तके।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छे सर्वाङ्गे दुर्जने विषम्॥८॥

शब्दार्थ—**तक्षकस्य** साँप के **दन्ते** दाँत में **विषम्** विष होता है, **मक्षिकायाः** मक्खी के **तु** केवल **मस्तके** मस्तक में विष होता है। **वृश्चिकस्य** बिच्छू के **पुच्छे** पूँछ में **विषम्** विष होता है और **दुर्जने** दुष्ट मनुष्य के **सर्वाङ्गे** सब अङ्गों में **विषम्** विष भरा रहता है।

भावार्थ—साँप के दाँतों में विष होता है, मक्खी के सिर में विष होता है, बिच्छू की पूँछ में विष होता है—इन सभी के एक-एक अङ्ग में विष होता है परन्तु दुर्जन के सभी अङ्गों में विष भरा रहता है।

विमर्श—दुर्जन से सदा सावधान रहना चाहिए—

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हलाहलं विषम्॥

—हितो० १।८३

दुर्जन प्रिय वचन बोलता है परन्तु इतने से ही उसका विश्वास नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि उसकी जीभ में मधुरता रहती है परन्तु अन्तः-करण में कपटरूप विष भरा होता है।

पत्युराज्ञां विना नारी उपोष्य व्रतचारिणी ।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥९॥

शब्दार्थ—**पत्युः** पति की **आज्ञाम्** **विना** आज्ञा के बिना **उपोष्य** उपवास, भूखे रहना रूपी **व्रतचारिणी** व्रत करनेवाली **नारी** स्त्री **भर्तुः** पति की **आयुष्यम्** आयु को **हरते** कम करती है और **सा** वह **नारी** स्त्री **नरकम्** **व्रजेत्** नरक में गिरती है, महान् कष्ट उठाती और दुःख भोगती है।

भावार्थ—जो स्त्री पति की आज्ञा के बिना भूखों मरनेवाला व्रत रखती है, वह पति की आयु को घटाती है और स्वयं महान् कष्ट भोगती है।

विमर्श—महर्षि मनु ने भी भूखे रहनेवाले व्रतों का खण्डन किया है—

पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥[1]

जो स्त्री पति के जीवित रहने पर व्रत या उपवास करती है, वह अपने पति की आयु को घटाती है और स्वयं नरक में जाती है।

स्त्रियाँ करवाचौथ का व्रत रखती हैं और इसे अत्यन्त शुभ मानती हैं परन्तु कबीरजी ने इसका प्रबल खण्डन किया है—

राम नाम को छाँडिके राखै करवा चौथि।
सो तो ह्वैगी सूकरी तिन्है राम सो कौथि ॥

—सद्गुरु कबीर की साखी पृ० ३५९

न दानैः शुध्यते नारी नोपवासशतैरपि ।
न तीर्थसेवया तद्वद् भर्तुः पादोदकैर्यथा ॥१०॥

शब्दार्थ—**नारी** स्त्री **दानैः** नाना प्रकार के दान देने से **न** **शुध्यते** शुद्ध नहीं होती, **उपवासशतैः** सैकड़ों उपवास करने से **अपि** भी न शुद्ध नहीं होती और **तीर्थसेवया** तीर्थों का सेवन करने से भी **तत्वत्** न वैसी शुद्ध नहीं होती **यथा** जैसी **भर्तुः** पति का **पाद-उदकैः** चरणोदक लेने से, चरणसेवा करने से पवित्र होती है।

---

१. यह श्लोक मनु० ५।१५५ के पश्चात् था। पीछे किसी ने निकाल दिया परन्तु अब भी अनेक प्रतियों में विद्यमान है।

भावार्थ—स्त्री नाना प्रकार के दान करने से, सैकड़ों प्रकार के उपवास करने से और तीर्थों में स्नान करने से वैसी शुद्ध और पवित्र नहीं होती जैसी स्वामी का चरणोदक लेने से, स्वामी की चरणसेवा से।

विमर्श—पति का महत्त्व ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में इस प्रकार वर्णित हुआ है—

पतिरेव गतिः स्त्रीणां पति प्राणाश्च सम्पदः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुः सेतुर्भवार्णवे॥
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनो विमुखाश्च याः॥
स्नानं च सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दक्षिणा।
सर्वदानानि पुण्यानि व्रतानि नियमाश्च ये॥
देवार्चनं चानशनं सर्वाणि च तपांसि च।
स्वामिनः पादसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

—ब्रह्म० ब्रह्मखण्ड ६।६४।६७

पति ही स्त्रियों की गति है, पति ही प्राण है, पति ही सम्पत्ति है, पति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का हेतु है। पति ही भवसागर से पार उतरने के लिए पुल है। पति ही स्त्री के लिए परमेश्वर है, पति ही व्रत है और पति ही सनातन धर्म है। स्त्रियों के वे समस्त कर्म व्यर्थ होते हैं जो पति की आज्ञा के बिना किये जाते हैं। सारे तीर्थों में स्नान, सब यज्ञों में दक्षिणा, सब प्रकार के दान, पुण्यकर्म, व्रत, नियम, देवपूजा, उपवास=भूखा रहनेवाले व्रत और सारे तप—ये सब पति की चरण-सेवा की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।

दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन
स्नानेन शुद्धिर्न तु चन्दनेन।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन
ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मण्डनेन॥११॥

शब्दार्थ—**दानेन** दान देने से **पाणिः** हाथ की शोभा होती है **कङ्कणेन** कंगन पहनने से **तु न** हाथों की शोभा नहीं होती **स्नानेन** स्नान करने से **शुद्धिः** शरीर की शुद्धि होती है **चन्दनेन** चन्दन लगाने से **तु न** निश्चय ही शरीर की शुद्धि नहीं होती। **मानेन** आदर-सम्मान से **तृप्तिः** सन्तुष्टि होती है **भोजनेन** भोजन के द्वारा **तु न** मानसिक तृप्ति नहीं होती।

ज्ञानेन ज्ञान से **मुक्तिः** मुक्ति होती है **मण्डनेन** तिलक, छापे आदि लगाने से **तु न** मुक्ति नहीं मिलती।

भावार्थ—हाथों की शोभा दान से होती है, कङ्गन पहनने से नहीं, शरीर की शुद्धि स्नान करने से होती है, चन्दन का लेप करने से नहीं, मानसिक तृप्ति आदर-सम्मान से होती है, भोजन से नहीं, ज्ञान से मुक्ति होती है, तिलक, छापे लगाकर श्रृंगार करने से नहीं।

विमर्श—हाथों की शोभा दान से है—

हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम्।
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः किं प्रयोजनम्॥

हाथ का आभूषण दान है, सत्य बोलना कण्ठ का आभूषण है, शास्त्र-वचन कान का आभूषण है—इन आभूषणों के होने पर अन्य आभूषणों की क्या आवश्यकता है?

मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है। दर्शनों ने स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है—

ज्ञानान्मुक्तिः। —सांख्य० ३।२३

ज्ञान [तत्त्वज्ञान, जड़-चेतन के भेद-साक्षात्कार] से मोक्ष प्राप्त होता है।

नापितस्य गृहे क्षौरं पाषाणे गन्धलेपनम्।
आत्मरूपं जले पश्यन् शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥१२॥

शब्दार्थ—**नापितस्य** नाई के **गृहे** घर पर जाकर **क्षौरम्** बाल बनवाना, **पाषाणे** पत्थर पर **गन्धलेपनम्** चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य लगाना और **आत्मरूपम्** अपने रूप, प्रतिबिम्ब को **जले** पानी में **पश्यन्** देखना—ये कार्य **शक्रस्य** इन्द्र अर्थात् अत्यन्त वैभवशाली पुरुष की **अपि** भी **श्रियम्** शोभा को **हरेत्** नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—नाई के घर पर जाकर हजामत बनवाना, पत्थर पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करना और जल में अपना प्रतिबिम्ब=परछाईं देखना—ये कार्य महान् ऐश्वर्यशाली की भी शोभा को नष्ट कर देते हैं।

विमर्श—हमारे विचार में यह श्लोक प्रक्षिप्त है। आजकल तो नाई घर पर जाकर हजामत नहीं बनाता है। ९९ प्रतिशत लोग सेलून में जाकर ही क्षौर कराते हैं, किसी की श्री नष्ट नहीं होती।

हाँ, पाषाण पर चन्दन लगाना अपनी मूर्खता प्रकट करना है। पत्थर या धातु आदि की मूर्तियाँ न तो चन्दन की गन्ध सूँघ सकती हैं और न उसकी शीतलता को अनुभव कर सकती हैं।

नदी, तालाब आदि में स्नान करते हुए पानी में अपना प्रतिबिम्ब सभी देखते हैं, किसी की श्री=शोभा, ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता।

सद्यः प्रज्ञाहरा तुण्डी सद्यः प्रज्ञाकरी वचा।
सद्यः शक्तिहरा नारी सद्यः शक्तिकरं पयः ॥१३॥

शब्दार्थ—**तुण्डी** कुन्दरु **सद्यः** शीघ्र ही **प्रज्ञाहरा** बुद्धि को नष्ट करनेवाला है, **वचा** वच [वच] **सद्यः** शीघ्र ही **प्रज्ञाकरी** बुद्धि को बढ़ानेवाली है। **नारी** स्त्री **सद्यः** शीघ्र ही **शक्तिहरा** शक्ति का हरण करनेवाली है और **पयः** दूध **सद्यः** अतिशीघ्र **शक्तिकरम्** बल प्रदान करनेवाला है।

भावार्थ—कुन्दरु शीघ्र बुद्धिनाशक है, वच शीघ्र बुद्धिवर्धक है, नारी तत्काल शक्तिहरण करनेवाली है और दूध तत्काल शक्ति-दायक है।

विमर्श—तुण्डी=कुन्दरु तत्काल बुद्धिनाशक है—

" 'द्रव्यरत्नाकर' के अनुसार इस [कुन्दरु] का फल बुद्धिनाशक और स्तन्यवर्धक है।

'जखीरये अकबरशाही के अनुसार यह भारी है तथा पित्त, कफ, रुधिर-विकार, दमा, ज्वर, कास—इनको दूर करती है। कन्दुरी अपने प्रभाव से बुद्धि को मन्द करती है। [कुन्दरु के विषय में यह प्रवाद चला आता है कि यह बुद्धिनाशक होता है।]"

—पं० विश्वेश्वर दयालुजी वैद्यराज, आयुर्वेदीय विश्वकोश तृतीय भाग पृ० २४३४

वच तत्काल बुद्धि को बढ़ानेवाली है।

वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी।

—राजवल्लभः

वच आयु को बढ़ानेवाली, वात, कफ और तृष्णानाशक तथा स्मृति को बढ़ानेवाली है।

और भी—

अद्भिर्वा पयसाज्येन मासमेकं तु सेविता ।
वचा कुर्यान्नरं प्राज्ञं श्रुतिधारणसंयुतम् ॥

—गरुडपु० १६१।३७

वच का जल, दूध अथवा घी के साथ एक मास तक सेवन करने से मनुष्य महा बुद्धिमान् बन जाता है तथा वेदों को कण्ठस्थ करने में समर्थ हो जाता है।

नारी शीघ्र शक्ति का हरण करनेवाली है। अत्यधिक मैथुन शीघ्र बुढ़ापा लाता है।

दूध और दूध से बने हुए पदार्थ मक्खन, दही, घी आदि शरीर में शीघ्र बल प्रदान करते हैं।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे ॥१४॥

शब्दार्थ—**येषाम्** जिन **सताम्** सज्जनों के **हृदये** हृदय में **परोपकरणम्** परोपकार करने की भावना **जागर्ति** सदा जाग्रत् रहती है **तेषाम्** उनकी **विपदः** आपत्तियाँ **नश्यन्ति** नष्ट हो जाती हैं और **पदे पदे** पद-पद पर **सम्पदः स्युः** सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार की भावना जाग्रत् रहती है, उनकी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और पद-पद पर उन्हें सम्पत्ति प्राप्त होती है।

विमर्श—परोपकार ही जीवन है। अपना पेट तो पशु भी भर लेता है। यदि पेट-पालना ही जीवन का उद्देश्य है तो मानवता क्या हुई? स्वार्थी मानव का जीवन तो व्यर्थ ही है—

परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् ।
जीवन्तु पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥

परोपकार-शून्य मनुष्य के जीवन को धिक्कार है, पशु सदा जीते रहें, जिनका चमड़ा भी उपकार में लगता है।

किसी ने ठीक ही कहा है—

"जिस शरीर से धर्म नहीं हुआ, यज्ञ न हुआ और परोपकार न हो सका, उस शरीर को धिक्कार है, ऐसे शरीर को पशु-पक्षी भी नहीं छूते।"

यदि रामा यदि च रमा
यद्यपि तनयो विनयगुणोपेतः ।
यदि तनये तनयोत्पत्तिः
सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥१५॥

शब्दार्थ—**यदि** यदि **रामा** सुन्दरी, सती-साध्वी पत्नी है **च** एवं **यदि रमा** धन-सम्पत्ति है, **यदि+अपि** और यदि **तनयः** पुत्र **विनय-गुण-उपेतः** विनयरूपी गुण से युक्त है [विनम्र है] **यदि** यदि **तनये** पुत्र के भी **तनय-उत्पत्तिः** पुत्र की उत्पत्ति हो गई तब **सुर-वर-नगरे** इन्द्र के नगर [स्वर्गलोक, देवलोक] में **किम्-आधिक्यम्** इससे अधिक क्या है ?

भावार्थ—यदि घर में सुन्दरी, सती-साध्वी, मधुरभाषिणी पत्नी है, विपुल धन-सम्पत्ति है, पुत्र विनयशील है, पुत्र के भी पुत्र की उत्पत्ति हो गई, तो स्वर्गलोक में इससे अधिक क्या है ? [कुछ भी तो नहीं ।]

विमर्श—स्वर्ग कहाँ है ? स्वर्ग आकाश में नहीं है। स्वर्ग इसी भूतल पर है । एक आदर्श गृहस्थ ही स्वर्ग है । जहाँ उत्तम पत्नी, प्रभूत धन-धान्य, सुशील पुत्र है, पोते आङ्गन में खेल रहे हैं—यही सब कुछ तो स्वर्गीय आनन्द है ।

वेद में कहा है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

—ऋ० १०।८५।४२

हे दम्पती ! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रम में रहो, कभी एक-दूसरे से वियुक्त मत होओ । अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करो । अपने घर में अपने पुत्र और पौत्रों के साथ अत्यन्त प्रसन्न और हर्षित होते हुए, उनके साथ आमोद-प्रमोद करते [खेलते] हुए जीवन-यापन करो ।

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥१६॥

शब्दार्थ—**आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि** भोजन करना, नींद लेना [सोना], भयभीत होना [डरना] और मैथुन [सन्तान उत्पन्न करना]

नृणाम् मनुष्यों **च** और **पशूनाम्** पशुओं की—**एतानि** ये चार बातें **समानि** समान हैं। **नराणाम्** मनुष्यों में पशुओं की अपेक्षा **ज्ञानम्** ज्ञान **अधिकः** अधिक और **विशेषः** विशेष होता है। **ज्ञानेन** ज्ञान से **हीनाः** रहित मनुष्य **पशुभिः** पशुओं के **समानाः** समान ही हैं।

भावार्थ—खाना, सोना, डरना और सन्तान पैदा करना—मनुष्यों और पशुओं में ये चार बातें समान होती हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञान अधिक और विशेष होता है। ज्ञान से रहित मनुष्य पशुओं के समान ही हैं।

विमर्श—ज्ञान शक्ति है। ज्ञान से मनुष्य उन्नत होता है। ज्ञान से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

Knowledge is the wing where with we fly to heaven.

ज्ञान वह पंख है जिसके द्वारा हम आकाश की ओर उड़ते हैं।

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालैर्
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति ॥१७॥

शब्दार्थ—**यदि** यदि **मद-अन्ध-बुद्ध्या** मदान्ध बुद्धिवाले **करिवरेण** श्रेष्ठ गजराज ने **दान-अर्थी** गजमद की कामना से आये हुए **मधुकराः** भौंरों को **कर्ण-तालैः** अपने कानों को फड़-फड़ाकर **दूरी कृताः** दूर हटा दिया तो **एषा** यह **तस्य-एव** उस हाथी के ही **गण्ड-युग-मण्डन-हानिः** दोनों गण्डस्थलों की शोभा की हानि हुई। **भृङ्गाः** भौंरे तो **पुनः** फिर **विकचपद्म-वने** विकसित कमल-वन में जाकर **वसन्ति** रहने लगते हैं।

भावार्थ—यदि मदान्ध बुद्धिवाले मदमस्त गजराज [हाथी] ने मद की कामना से आये हुए भौंरों को अपने कानों को फड़-फड़ाकर उड़ा दिया तो इससे उसी के गण्ड-स्थलों की शोभा नष्ट हुई। भौंरे तो पुनः खिले हुए कमलवन में जाकर रहने लगते हैं।

विमर्श—यदि किसी अभिमानी और धन के नशे में चूर राजा अथवा धनी के द्वार पर कोई विद्वान् या गुणी आ जाए, उस समय वित्तमोह में मूढ़ता के कारण विद्वान् अथवा गुणी का आदर न करना मानो अपनी लक्ष्मी की शोभा की हानि करना है। काल असीम है और पृथिवी अनन्त है, गुणी और विद्वान् का आदर तो कहीं-न-कहीं किसी-

न-किसी समय अवश्य होगा ही।

राजा वेश्या यमो ह्यग्निस्तस्करो बालयाचकौ।
परदुःखं न जानन्ति अष्टमो ग्रामकण्टकः ॥१८॥

शब्दार्थ—**राजा** राजा, **वेश्या** वेश्या, **यमः** यमराज, **अग्निः** आग, **तस्करः** चोर, **बाल-याचकौ** बालक तथा याचक और **अष्टमः** आठवाँ **ग्रामकण्टकः** ग्रामकण्टक [ग्रामवासियों को पीड़ा देकर अपना निर्वाह करनेवाला]—ये **परदुःखम्** दूसरे के दुःख को **न** नहीं **जानन्ति** जानते।

भावार्थ—राजा, वेश्या, यमराज, अग्नि, चोर, बालक, याचक और ग्रामकण्टक—ये आठ दूसरे के दुःख को नहीं जानते।

विमर्श—इनमें अग्नि तो जड़ पदार्थ है, वह तो किसी के दुःख-सुख को जान ही नहीं सकता। शेष चेतन भी दूसरे के दुःख को न जानकर अपने ही घर को भरने का प्रयत्न करते हैं। राजा जनता को पीड़ित करके भी अपना कोष भरना चाहता है। वेश्या को धन चाहिए चाहे प्रेमी कहीं से लाकर दे। यमराज प्राणियों को समय आने पर दूसरी योनियों में भेज देता है चाहे परिवारवालों को कितना ही कष्ट हो। चोर को अपनी चोरी से मतलब है, वह यह नहीं सोचता कि इस धन को चुराने से इसके स्वामी की क्या दशा होगी? बाल-हठ प्रसिद्ध ही है। याचक भी अपना ही स्वार्थ सोचता है और ग्रामकण्टक का तो निर्वाह ही ग्रामवासियों को पीड़ा देकर होता है।

अधः पश्यसि किं बाले पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूर्ख न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥१९॥

शब्दार्थ—किसी अत्यन्त वृद्धा को, जिसकी कमर झुक गई है, देखकर कोई युवक व्यङ्गबाण छोड़ते हुए पूछता है—**बाले**! हे नव-यौवने! तरुणि! **अधः** नीचे **किम्** क्या **पश्यसि** देखती है, खोजती है? **तव** तेरा **भुवि** पृथिवी पर **किम्** क्या **पतितम्** गिर पड़ा है, तुम्हारा क्या खो गया है? इस व्यङ्गबाण को सुनकर वृद्धा बोली—**रे रे मूर्ख** अरे ओ मूर्ख! **न जानासि** तू नहीं जानता कि मेरा **तारुण्यमौक्तिकम्** यौवनरूपी मोती **गतम्** खो गया है [मैं उसी को ढूँढ रही हूँ।]

भावार्थ—किसी मनचले युवक ने किसी वृद्धा से पूछा—हे बाले! तू क्या खोजती फिर रही है, पृथिवी पर तेरी कौन-सी वस्तु खो गई है?

वृद्धा ने कहा—अरे मूर्ख ! तुझे पता नहीं है कि मेरा यौवनरूपी मोती खो गया है, मैं उसी को खोजती फिर रही हूँ।

विमर्श—वृद्धों का आदर-सम्मान करना चाहिए। उन पर व्यङ्ग नहीं कसने चाहिएँ। एक दिन व्यङ्गबाण चलानेवालों की भी वही अवस्था हो सकती है।

एक उर्दू कवि ने कहा है—

नहीं ज़ौफ़[1] से झुक मेरी कमर गई,
मैं झुक के ढूँढता हूँ जवानी किधर गई।

कहते हैं किसी बूढ़े की कमान जैसी झुकी कमर को देखकर किसी मनचले युवक ने पूछा—"बूढ़े ! यह कमान कितने में खरीदी है ?" वृद्ध बोला—"बेटे ! मेरी अवस्था में पहुँचने पर यह कमान तुम्हें बिना मूल्य के ही मिल जाएगी।"

व्यालाश्रयाऽपि विफलापि सकण्टकाऽपि।
वक्राऽपि पङ्किल-भवाऽपि दुरासदाऽपि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तोर्
एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान् ॥२०॥

इति सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-स्वामिवेदानन्द-सरस्वतीशिष्येन
जगदीश्वरानन्दसरस्वतीस्वामिनानुदितो भगवती-भाष्येन
समलंकृतः समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

शब्दार्थ—**केतकि** हे केतकि [केवड़े] ! **अपि** यद्यपि तू **व्यालाश्रया** साँपों का घर है, **विफला-अपि** फलों से भी रहित है [तुझमें फल भी नहीं लगते], **सकण्टका-अपि** तुझमें काँटे भी हैं, **वक्रा-अपि** साथ ही टेढ़ी भी है, **पङ्किल-भवा-अपि** तू पैदा भी कीचड़ में होती है, **दुः आसदा-अपि** तेरी प्राप्ति भी कठिनता से होती है—इतना सब कुछ होने पर भी तू **गन्धेन** अपने गन्धगुण के कारण **सर्वजन्तोः** सब प्राणियों की **बन्धुः-असि** बन्धु बन रही है, सब प्राणियों के मन को मोह रही है। इससे निश्चय होता है कि **एकः** एक भी **गुणः** गुण **समस्त दोषान्** सारे दोषों को **निहन्ति** नष्ट कर देता है।

---

१. वृद्धावस्था, बुढ़ापा।

भावार्थ—हे केतकि ! यद्यपि तू साँपों का घर है, फल से रहित है, काँटों से युक्त है, टेढ़ी भी है, उत्पन्न भी कीचड़ में होती है, प्राप्त भी कठिनता से होती है—इतना सब कुछ होने पर भी तू केवल अपने गन्ध गुण के कारण सब प्राणियों के मन को मोह रही है। इससे निश्चय होता हैं कि एक भी गुण सारे दोषों को दूर कर देता है।

विमर्श—मनुष्य को अपने जीवन में गुणों का विकास करना चाहिए। एक भी गुण मनुष्य को पूज्य बना देता है।

यह चाणक्यनीतिदर्पण का आर्यभाषानुवाद में

सत्रहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१७॥

। यह ग्रन्थ भी समाप्त हुआ ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद
अवधूतगीता
अष्टांगसंग्रह
अष्टावक्रगीता
आयुर्वेदीय विश्वकोश
उत्तररामचरितम्
ऋग्वेद
कामन्दकीयनीतिसार
किरातार्जुनीयम्
गरुड़पुराण
गीता
गौतमस्मृति
चरक
चाणक्यनीतिशास्त्रम्
चाणक्यराजनीतिशास्त्रम्
चाणक्यशतकम्
चाणक्यसारसंग्रह
चाणक्यसूत्राणि
छान्दोग्योपनिषत्
जिनधर्मविवेक
दशकुमारचरितम्
दानकमलाकर
देवीभागवतपुराण
धन्वन्तरि
नीतिसार
पञ्चतन्त्र
पद्मपुराण
प्रश्नोत्तरी [शंकराचार्य]
बृहदारण्यकोपनिषत्
बौधायनगृह्यसूत्र
ब्रह्मवैवर्तपुराण
भर्तृहरिनीति, वैराग्य, शृंगार-शतकम्
भविष्यपुराण
भागवतपुराण
भोजप्रबन्ध
महानाटकम्
महाभारतम्
महाभाष्यम्
महोपनिषत्
मार्कण्डेयपुराण
मुक्तिकोपनिषत्
मुण्डकोपनिषत्
मनुस्मृति
मृच्छकटिकम्
मेघदूत
यजुर्वेद
योगदर्शन
योगवासिष्ठ
रघुवंशम्
राजवल्लभ
रामचरितमानस
वाल्मीकि-रामायणम्
विदुरनीति
विवेकचूड़ामणि
वृद्धचाणक्य
वैशेषिकदर्शन
शाङ्र्गधरपद्धति
शिशुपालवध
शुक्रनीतिसार
श्वेताश्वतरोपनिषत्
सत्यार्थप्रकाश
सद्गुरु कबीर की साखी
सांख्यदर्शन
सामवेद
सुभाषितावलि
सुश्रुत
स्कन्दपुराण
स्मृतिरत्नाकर
स्वप्नवासवदत्तम् (स्वप्न-नाटक)
हितोपदेश

चाणक्यनीतिदर्पणश्लोकानामनुक्रमणिका

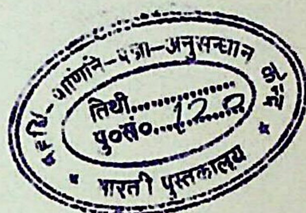
□□

विमर्श में उद्धृत श्लोकानुक्रमणिका

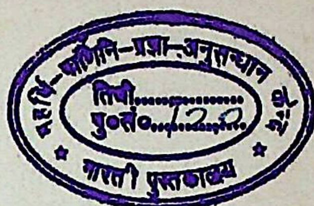


विमर्श में उद्धृत श्लोकानुक्रमणिका

विमर्श में उद्धृत वेद-मन्त्रों की अनुक्रमणिका



विमर्श में उद्धृत सूक्तियों तथा अन्य प्रमाणों की अनुक्रमणिका



हिन्दी-उर्दू के पद्यों की अनुक्रमणिका

□□


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी................
पु०सं०...120...
भारती पुस्तकालय





चाणक्यनीतिदर्पण पर विद्वानों की

चाणक्यनीति के अनुवाद तो बहुत हुए परन्तु इस ग्रन्थ
सर्वप्रथम दृष्टिगोचर हुआ है। इस ग्रन्थ रचना के लिए
देता हूँ। ऐसा प्रतीत होता है इस ग्रन्थ पर विमर्श लिखने
सारा पाण्डित्य उँडेल दिया है। वेद, स्मृति, रामायण, म
ग्रन्थों के प्रमाण से इस ग्रन्थ को सुभूषित कर दिया है। 'प्र
बहुत-से श्लोकों के अर्थ अनुवादकों ने अशुद्ध किये थे,
विद्वतापूर्ण अर्थ दिए गये हैं। यह ग्रन्थ सभी के लिए संग्रहणी
करने योग्य है। काश ! यह परिश्रम स्वामीजी वेद-व्याख्या

—स्वर्गीय

स्वामी जगदीश्वरानन्दजी प्रसिद्ध लेखक व मुखर प्र
पचासों ग्रन्थ इनके प्रकाशित हैं। यह रचना छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष, कम पढ़े तथ अधिक पढ़े सभी पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। चाणक्य की अपनी मौलिक उपयोगिता के साथ इस विस्तृत व्याख्या ने उपयोगिता में चार चाँद लगा दिए हैं। पाठक इस रचना को लेकर कभी निराश नहीं होगा। —आचार्य हृदयवीर शास्त्री

श्री जगदीश्वरानन्द जी द्वारा चाणक्यनीतिदर्पण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पढ़ने को मिला। चाणक्य का नाम भारतीय साहित्य में राजनीति के लिए भी प्रसिद्ध है। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यवहार-नीति का वर्णन अधिक है। राजनीति का नहीं। यही कारण है कि जनसाधारण के लिए अपने जीवन में किस तरह व्यवहार करना चाहिए—इसके लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुस्तक इतनी हृदयग्राही है कि पढ़ते-पढ़ते छोड़ने का मन नहीं करता। इसमें सिर्फ चाणक्यनीति के श्लोक ही नहीं दिए गये, जगह-जगह उसी विचार को पुष्ट करने वाले अन्य ग्रन्थों के भी श्लोक दिए गये हैं जो पाठक की रुचि को बनाए रखते हैं। एक प्रकार से जीवन का पथ-प्रदर्शन करने वाले मुहावरों की इस पुस्तक का प्रत्येक श्लोक जीवन को कोई दिशा देता है। स्वामी जगदीश्वरानन्द वैदिक एवं संस्कृत साहित्य के अगाध पण्डित हैं और उनका यह पाण्डित्य पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठ के प्रत्येक श्लोक में झलकता है। यह एक तरह से सुभाषितों का विश्वकोष है।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती की लौह लेखनी से लिखित यह ग्रन्थ अनूठा है। इस ग्रन्थ पर इतनी विस्तृत और पांडित्यपूर्ण व्याख्या इससे पूर्व किसी ने नहीं की थी। विमर्श तो बस पढ़ते ही बनता है। कितने ग्रन्थों का सार स्वामीजी ने इसमें समाविष्ट कर दिया है। विविध अनुक्रमणिकाओं से ग्रन्थ का संस्कृत पढ़ने वालों के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और उपादेय सिद्ध होगा। प्रत्येक गृह और पुस्तकालय में यह ग्रन्थ होना ही चाहिए। मैं लेखक और प्रकाशक दोनों को बधाई देता हूँ। —क्षितीश वेदालंकार, सम्पादक आर्यजगत्